श्री महावीराय नमः

श्री कुशलरत्नगजेन्द्रगणिभ्यो नमः

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए

(ज्ञान समस्त द्रव्यों का प्रकाशक है)

जय गुरु हीरा

जय गुरु मान

जैन सिद्धान्त प्रभाकर - पूर्वार्द्ध

नवमीं कक्षा

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड

प्रधान कार्यालय :

घोड़ों का चौक, जोधपुर -342 001 (राजस्थान)

फोन : 0291-2630490 फैक्स : 0291-2630490, 2636763

सूत्र विभाग–

तृतीय अध्ययन : चतुरंगीय

(तइयं अज्झयणं : चाउरंगिज्ज)

चार दुर्लभ अंगों का नामोल्लेख

मूल– चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥1॥

अन्वयार्थ– इह– इस संसार में, **जंतुणो–** प्राणी को, **चत्तारि परमंगाणि–** चार परम अंगों की प्राप्ति, **दुल्लहाणि–** दुर्लभ है। (वे इस प्रकार हैं) **माणुसत्तं–** मनुष्यत्व (मनुष्य जन्म–प्राप्ति), **सुई–** धर्मश्रवण, **सद्धा–** श्रद्धा (धर्म पर श्रद्धा), **य–** और, **संजमम्मि वीरियं–** संयम में पराक्रम (पुरुषार्थ)।

विवेचन– चारों अंग उत्तरोत्तर दुर्लभ– शरीर को सुदृढ़ एवं स्वस्थ रखने के लिए जैसे मस्तक, छाती, पेट, भुजा और जंघा आदि द्रव्य–अंगों की आवश्यकता है, वैसे ही आत्मा को सुदृढ़, स्वस्थ एवं विकसित करने के लिए धर्म–साधना के इन चार भाव–अंगों की आवश्यकता है। इसलिए मनुष्यत्व आदि चारों अंग (कारण) उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं।

मनुष्यत्व का अर्थ– केवल मनुष्य जन्म ही नहीं, मनुष्यता भी है। क्योंकि मनुष्य शरीर मिलने पर भी मानवता नहीं होगी तो व्यक्ति धर्म–साधना के सम्मुख नहीं हो सकेगा।

संयम में पराक्रम : व्याख्या– निर्युक्तिकार के अनुसार–अनशनादि बारह प्रकार का तपःप्रधान जो संयम पंच–आस्रवों से विरमण आदि है, उसमें वीर्य– (वीर्यान्तराय क्षयोपशमजनित शक्ति) लगाना–पुरुषार्थ करना ही संयम में पराक्रम करना है। दया, लज्जा, (असंयम के आचरण में लज्जित होना), जुगुप्सा (पापास्रव से घृणा) अछलना (सरलता), तितिक्षा और अहिंसा, ये संयम के पर्यायवाची हैं।

अन्य अंग भी दुर्लभ– निर्युक्तिकार ने चार अंगों सहित अन्य कतिपय अंगों को भी दुर्लभ बताया है। यथा– मानुष्य (मनुष्यभव), आर्यक्षेत्र, उत्तमजाति– कुल, रूप (पूर्णांगता), आरोग्य, पूर्ण आयुष्य, परलोकप्रवण बुद्धि, धर्मसम्बद्ध श्रवण, अवग्रह (अवधारण करना), श्रद्धा और संयम।

मनुष्यत्व–प्राप्ति की दुर्लभता

मूल– समावण्णाण संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणाविहा कट्ठु, पुढोविस्संभिया पया॥2॥

अन्वयार्थ– नाणाविहा कम्मा कट्ठु– अनेकविध कर्मों का संचय करके, **नाणागोत्तासु जाइसु–** नाना प्रकार के गोत्रों वाली जातियों में, **पुढो–** पृथक्–पृथक् रूप से (प्रत्येक योनि में) उत्पन्न होकर, **संसारे समावण्णाण–** संसार को प्राप्त (संसारी), **पया–** जीवों ने, **विस्संभिया–** सारे विश्व को (अपनी उत्पत्ति से) भर (व्याप्त कर) दिया है।

विवेचन– ज्ञानावरणीय आदि अनेक प्रकार के कर्म (संचित) करके अनेक (हीन–मध्यम–उत्तम) गोत्रों (नामों) वाली क्षत्रिय आदि जातियों (अथवा जन्मों) में एक–एक योनि में पृथक्–पृथक् रूप से (अर्थात् कभी किसी योनि में, कभी किसी में) उत्पन्न होकर संसारी जीव सारे विश्व को भर देते हैं, अर्थात्– वे संसार में सर्वत्र उत्पन्न होते हैं। बाल के अग्रभाग जितना भी कोई प्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ जीव ने जन्म–मरण न किया हो।

आशय– मनुष्यजन्म को पाकर भी स्वकृत विचित्र कर्मों के प्रभाव से मनुष्य पृथक्–पृथक् जातियों को प्राप्त करता है। यही विविध गतियों में गमन का कारण है, जो कि मनुष्यत्व की दुर्लभता को सूचित करता है, अथवा नाना प्रकार के कुलकोटिरूप गोत्रों वाली देवादि में उत्पत्तिरूप जातियों को प्राप्त करने से भी मनुष्यत्व की दुर्लभता सूचित होती है।

मूल- एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ॥3॥

अन्वयार्थ– अहाकम्मेहिं– स्वकृत कर्मों के अनुसार (जीव), **एगया–** कभी, **देवलोएसु–** देवलोकों में, **एगया–** कभी, **नरएसु वि–** नरकों में भी, (तथा) **एगया–** कभी, **आसुरं कायं–** असुरसम्बन्धी निकाय में, **गच्छइ–** जाता (जन्म लेता) है।

विवेचन– स्वयंकृत सरागसंयम, महारम्भ, आसुर भावना आदि क्रमशः देव, नारक एवं आसुरगति हेतुक क्रियाविशेषों के अनुसार, अथवा उस–उस गति एवं योनि के अनुरूप कर्मों–कार्यों (चेष्टाओं) के कारण कभी शुभकर्मानुभव (फलभोग) के समय देवलोकों–देवों के उत्पत्तिस्थानों में उत्पन्न होता है, कभी अशुभकर्मानुभव (फल भोग) के समय रत्नप्रभादि नरक–नारकों के आवासों में उत्पन्न होता है और कभी आसुरी–भावना से अन्तःकरण भावित हो तब, अर्थात्– बालतप आदि के कारण जीव असुरसम्बन्धी निकाय में जाता है।

'आसुर' शब्द का पृथक् प्रयोग– यद्यपि भवनपति आदि असुर देव हैं, इस कारण उनका लोक भी देवलोक हो सकता है, तथापि यहाँ 'देवलोक' शब्द सौधर्म आदि में रूढ़ होने से ऊपर के देवों के उत्पत्तिस्थान के लिए प्रयुक्त है, जबकि 'आसुर' शब्द नीचे के (भवनपति आदि) देवों के उत्पत्ति–स्थान के लिए प्रयुक्त है।

मूल- एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल-वोक्कसो।
तओ कीड पयंगो य, तओ कुंथु-पिवीलिया॥4॥

अन्वयार्थ– एगया– कभी (यह जीव), **खत्तिओ–** क्षत्रिय (राजा–शासक), **होइ–** होता है, **तओ–** उसके पश्चात् (कभी), **चण्डाल–वोक्कसो–** चाण्डाल तथा वोक्कस (वर्णसंकर होता है) **तओ–** उसके बाद फिर, **कीडपयंगो–** कीट और पतंगा भी (होता है) **य–** और, **तओ–** तदनन्तर (कभी वह), **कुंथु–पिवीलिया–** कुन्थु और (कभी) पिपीलिका (चींटी) होता है।

विवेचन–

एक बार– यानी मनुष्यजन्मानुरूप कर्मप्रकृति के उदय के समय जीव क्षत्रिय (क्षत अर्थात् पीड़ित जीवों का त्राता) होता है, तदनन्तर वही जीव अशुभकर्मों के उदय से चाण्डाल (मातंग अथवा शूद्र) होता है, तथा वहाँ कदाचित् वोक्कस (वर्णसंकर–अर्थात्–निषाद) होता है। कभी तिर्यंचगति के अनुरूप कर्म के उदय से वही जीव कीड़ा (त्रीन्द्रिय) या पतंगा (चतुरिन्द्रिय) होता है और पुनः वही जीव कभी कुन्थुआ या चींटी आदि (त्रीन्द्रिय) होता है।

मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर भी मनुष्यता दुर्लभ : क्यों और कैसे?– इस गाथा में बताया गया है कि मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर भी वह मानव कभी उच्च (क्षत्रिय आदि) अत्यन्त भोगरत जातियों में, कभी नीच (चाण्डाल आदि) असंस्कारी जातियों में और कभी कुसंस्कारी वर्णसंकर जातियों में उत्पन्न होता है। इन कारणों से वह मनुष्य मनुष्यता प्राप्त नहीं कर पाता और मनुष्यता प्राप्त न होने से वह वहाँ से मरकर उत्थान के बदले कीट, पतंग, कुन्थु, चींटी आदि तिर्यंचगति की योनियों में उत्पन्न होकर उत्तरोत्तर पतन की ओर जाता है। मनुष्यता उसके लिए दूरातिदूर होती जाती है।

मूल- एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्म-किव्विसा।
न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया॥5॥

अन्वयार्थ– व– जिस प्रकार, **खत्तिया–** क्षत्रिय (राजा आदि भोगासक्त लोग) **सव्वट्ठेसु–** समस्त इन्द्रिय–विषयों (काम–भोगों) का उपभोग करने पर भी, **न निव्विज्जंति–** निर्वेद–वैराग्य को प्राप्त नहीं होते, **एवं–** इसी प्रकार, **कम्मकिव्विसा–** कर्मों से मलिन (अथवा अधम), **पाणिणो–** प्राणी, **आवट्टजोणीसु–** आवर्त (पुनः पुनः परिभ्रमण) रूप योनियों (योनिचक्र) में परिभ्रमण करते हुए भी, **संसारे–** संसार (संसारदशा)से निर्वेद नहीं पाते।

विवेचन– कर्मों से अधम बने हुए अथवा क्लिष्ट–निकृष्ट अशुभानुबन्धी कर्मों वाले प्राणी आवर्त्तरूप विविध योनियों में परिभ्रमण करने पर भी उसी प्रकार कदापि निर्वेद– (इन कर्मों से कब छुटकारा होगा, इस प्रकार की विरक्ति) को प्राप्त नहीं होते, जिस प्रकार राजा आदि क्षत्रिय सभी प्रकार के मनोज्ञ, ऐश्वर्य एवं शब्दादि विषय–सुखभोग के साधनों का उपभोग करते हुए भी उनसे निर्वेद को प्राप्त (विरक्त) नहीं होते।

आशय– जैसे मनोज्ञ शब्दादि विषयों का उपभोग करते हुए भी क्षत्रिय राजादि की तृप्ति नहीं होती, बल्कि उनकी तृष्णा बढ़ती जाती है, वैसे ही क्लिष्ट कर्मों के कारण अधम बने हुए भवाभिनन्दी संसारी जीवों को भी बार–बार उन–उन योनियों में उत्पन्न होने पर भी जन्म–मरण के चक्र से मुक्त होने की इच्छा नहीं होती।

मूल- **कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।**
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मंति पाणिणो॥6॥

अन्वयार्थ– कम्मसंगेहिं– कर्मों के संग–सम्बन्ध से, **सम्मूढा–** अत्यन्त मूढ (अतएव), **दुक्खिया–** दुःखित (और), **बहुवेयणा–** अतिवेदना (शरीर व्यथा) वाले, **पाणिणो–** प्राणी, **अमाणुसासु जोणीसु–** मनुष्येतर योनियों में, (जन्म लेकर) **विणिहम्मंति–** विशेषरूप से पुनः पुनः विनिघात (त्रास या पतन) को प्राप्त होते हैं।

विवेचन– जो प्राणी ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के संग (अथवा उन–उन क्रिया विशेषरूप कर्मों तथा शब्दादि–विषयों में आसक्ति) के कारण अतिमूढ़, दुःखित और घोर वेदनाग्रस्त हैं, वे नरक, तिर्यंच एवं किल्विषी देव आदि दुर्गति–सम्बन्धी मनुष्येतर योनियों में जन्म लेकर विशेषरूप से आत्मविघात (या आत्मपतन) पाते हैं।

आशय– कर्मों के बन्ध से सम्मूढ़ बने हुए जीव दुःख हेतुक नरकादि गतियों में बार–बार जन्म लेते रहने के कारण इनसे छुटकारा नहीं पाते। फलतः मनुष्यत्व को प्राप्त करना उनके लिए अत्यन्त कठिन है।

मूल- **कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।**
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं॥7॥

अन्वयार्थ– कयाइ उ– किन्तु कदाचित्, **आणपुव्वी–** कालक्रम के अनुसार, **कम्माणं पहाणाए–** (मनुष्यगति प्रतिबन्धक) कर्मों के क्षय (नष्ट) हो जाने से, **जीवा–** जीव, **सोहिं–** शुद्धि (आत्मविशुद्धि) को, **अणुप्पत्ता–** प्राप्त करते हैं। (फिर उसके फलस्वरूप वे) **मणुस्सयं–** मनुष्यभव को, **आययंति–** प्राप्त (या स्वीकार) करते हैं।

विवेचन– अति दीर्घकाल के पश्चात् भाग्ययोग से कदाचित् कालक्रमानुसार मनुष्यगति को रोकने वाले तथा नरकगति प्राप्त करने वाले अनन्तानुबन्धी कषायादि क्लिष्ट कर्मों के नष्ट हो जाने से जीव क्लिष्टकर्मनाशरूप शुद्धि को प्राप्त करते हैं। फलतः कषाय की मन्दता, प्रकृतिभद्रता, विनीतता, सदयता और अमत्सरता आदि गुणों के कारण विशेष शुद्धि हो जाने से मनुष्यायु का बन्ध होता है और जीव मनुष्यत्व व मनुष्य–जन्म प्राप्त करते हैं।

आशय यह है कि इतनी सब घाटियाँ पार होने के बाद ही क्लिष्ट कर्मनाशरूप विशेष शुद्धि के कारण व्यक्ति मनुष्यभव पा सकता है, अन्यथा नहीं।

धर्मश्रवण की दुर्लभता

मूल- माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं॥8॥

अन्वयार्थ– माणुस्सं– मनुष्यभव–सम्बन्धी, **विग्गहं–** शरीर, **लद्धुं–** पा लेने पर भी, **धम्मस्स–** धर्म का, **सुई–** श्रवण करना, **दुल्लहा–** दुर्लभ है, **जं–** जिस धर्म को, **सोच्चा–** सुनकर (जीव), **तवं–** तप, **खंतिं–** क्षमा (और) **अहिंसयं–** अहिंसकता को, **पडिवज्जंति–** स्वीकार करते हैं।

विवेचन– मनुष्यगति सम्बन्धी औदारिक शरीर को पा लेने पर भी विशुद्ध (जिन–प्ररूपित) धर्म का श्रवण करना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे धर्म का श्रवण तो सुलभ है, जिसके उन्नायक खाने–पीने और ऐश–आराम करने की तथा इन्द्रिय–विषयोपभोग की खुली छूट देते हों। इसलिए यहाँ कहा गया है कि जिसे सुनकर व्यक्ति में बारह प्रकार के तप, क्षमा आदि दश धर्म और अहिंसकता (उपलक्षण से शेष व्रतों–महाव्रतों) को ग्रहण करने की प्रेरणा जगती हो, वही विशुद्ध धर्म का श्रवण दुर्लभ है।

श्रद्धा : परम दुर्लभ

मूल- आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई॥9॥

अन्वयार्थ– आहच्च– कदाचित्, **सवणं–** धर्मश्रवण का योग, **लद्धुं–** प्राप्त होने पर भी, (उस पर), **सद्धा–** श्रद्धा का होना, **परमदुल्लहा–** परम दुर्लभ है, (क्योंकि) **नेआउयं–** नैयायिक (न्यायसंगत अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाले), **मग्गं–** मार्ग के विषय में, **सोच्चा–** सुनकर भी, **बहवे–** बहुत से लोग, **परिभस्सई–** उससे परिभ्रष्ट हो जाते हैं।

विवेचन– मनुष्यत्व को प्राप्त कर लेने के बाद सद्धर्म–श्रवण का संयोग मिल जाने पर भी धर्मविषयकरुचिरूप श्रद्धा तो अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि न्यायसंगत सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग के विषय में सुनकर भी बहुत से सर्वथा श्रद्धा–भ्रष्ट हो जाते हैं।

श्रद्धा की परमदुर्लभता के कारण–

निर्युक्तिकार ने श्रद्धा की अत्यन्त दुर्लभता के ये कारण बताए हैं–

1. जो मिथ्यादृष्टि जीव है, वह गुरु आदि द्वारा उपदिष्ट प्रवचन पर 'यह ऐसा ही है,' अथवा 'वही सत्य और निःशंक है, जो जिन भगवन्तों द्वारा प्ररूपित है'(इस प्रकार से श्रद्धा नहीं करता।
2. कदाचित् दूसरे के द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट पर श्रद्धा करता है, तो भी वह असद्भूतभाव पर करता है।
3. सम्यग्दृष्टि जीव सुगुरु के द्वारा उपदष्टि प्रवचन पर श्रद्धा तो करता है; किन्तु कभी–कभी कई सम्यग्दृष्टि अनाभोग– (अज्ञान) वश, या गुरूजनों के प्रति नियोग (विश्वास) वश अतत्त्व को भी तत्त्व मान बैठते हैं।
4. कई सम्यग्दृष्टि इतने सरल और भोले होते हैं कि स्वयं आगमानुसारी बुद्धि वाले होने पर भी गुरु के मिथ्या उपदेश से अन्यथा भी समझ बैठते हैं। जैसे– जमालि आदि निह्नवों के शिष्य स्वयं आगमानुसारी बुद्धि वाले होते हुए भी अपने–अपने गुरुओं के प्रति भक्तिवश विपरीत अर्थ को भी सत्य मान बैठे थे।

श्रद्धापरिभ्रष्ट नौ मुख्य निह्नव–

जिनशासन में कई विपरीत मति मिथ्यादृष्टि निह्नव हो गये हैं। उनमें से मुख्य 9 नाम इस प्रकार हैं– 1. जमालि, 2. तिष्यगुप्त, 3. आषाढ़ाचार्य के अव्यक्तवादी शिष्य, 4. अश्वमित्र, 5. गंगाचार्य, 6. षड्लूक, 7. स्थविर, 8.गोष्ठामहिल और 9. बोटिक शिवभूति। इनके द्वारा क्रमशः 1.क्रियमाण–अकृतवाद, 2. जीवप्रदेश– अजीववाद, 3.अव्यक्तवाद, 4.समुच्छेदवाद, 5. द्वैक्रियवाद, 6.षट्पदार्थप्ररूपणवाद, 7.त्रैराशिकवाद, 8. स्थिरीकरणवाद और 9. अबद्धपोतवाद प्रवर्तित हुआ।

संयम में पराक्रम : उनसे भी दुर्लभ

मूल- सुइं च लद्धुं सद्दं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो एणं पडिवज्जए॥10॥

अन्वयार्थ– सुइं– धर्मश्रवण, **च–** और, **सद्धं–** श्रद्धा को, **पुणलद्धुं–** प्राप्त करके भी, **वीरियं–** संयम में पुरुषार्थ, **दुल्लहं–** अतिदुर्लभ है। **बहवे–** बहुत से लोग, **रोयमाणा वि–** संयम में अभिरूचि रखते हुए भी, **एणं–** इसे, **नो पडिवज्जए–** सम्यक्रूप से स्वीकार नहीं कर पाते।

विवेचन– सबसे दुर्लभतम अंग– न केवल मनुष्यत्व को पाये हुए, अपितु धर्मश्रवण एवं उस पर श्रद्धा करने वाले सात्यकि, श्रेणिक आदि की तरह बहुत से व्यक्ति चारित्रमोहनीय–कर्मोदयवश संयम– विषयक पुरुषार्थ– पराक्रम नहीं कर पाते। इस कारण संयम विषयक पराक्रम इन सबमें दुर्लभतम प्रतीत होता है।

दुर्लभ चतुरंग– प्राप्त से कर्ममुक्ति की सम्भावना

मूल- माणुसत्तंमि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं॥11॥

अन्वयार्थ– माणुसत्तंमि– मनुष्यभव में, **आयाओ–** आकर (या मनुष्यत्व पाकर), **जो–** जो, **धम्मं सोच्च–** सद्धर्म का श्रवण करके, **सद्दहे–** (उसमें) श्रद्धा करता है, (वह) **तवस्सी–** तपस्वी, **वीरियं लद्धुं–** संयम में पराक्रम (शक्ति का अवसर) पाकर (लगाकर), **संवुडे–** संवृत हो (समस्त आस्रवों का निरोध) कर, **रंय–** कर्मरज को, **निद्धुणे–** सर्वथा दूर कर देता है।

विवेचन– मनुष्यत्व या मनुष्यजन्म को पाकर जो व्यक्ति धर्मश्रवण करता है, वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उस पर श्रद्धा करता है। इससे वह सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है और फिर संयम में पराक्रम करता है, इससे सम्यक्चारित्र का पालन करता है तथा तपस्वी होकर निदान आदि से रहित प्रशस्त तपश्चरण करता है। इस प्रकार शास्त्रोक्त सम्यग्दर्शन–ज्ञान– चारित्र–तपरूप मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होकर साधक एक ओर से समस्त आस्रवों (शुभाशुभकर्मों) का निरोध करके संवृत हो जाता है, दूसरी ओर से तपस्या, परीषह–उपसर्ग–सहन समत्व, क्षमा आदि के द्वारा कर्म–क्षय (पूर्वबद्ध कर्मों का विनाश) कर देता है। फलतः कर्मरूपी रज को सर्वथा झाड़ कर सिद्ध–बुद्ध–मुक्त–विशुद्ध बन जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत गाथा द्वारा चतुरंग–सेवन से पारम्परिक–पारलौकिक मुक्तिफल बताया गया है।

आत्मशुद्धि, धर्मस्थिति एवं निर्वाणप्राप्ति : परस्पर कारण

मूल- सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तव्व पावए॥12॥

अन्वयार्थ– उज्जुयभूयस्स– जो ऋजुभूत–सरल (निष्कपट) होता है, उसकी **सोही–** शुद्धि होती है, **सुद्धस्स–** जो शुद्ध होता है, उसमें, **धम्मो–** धर्म, **चिट्ठइ–** ठहरता (स्थिर रहता) है। (जिसमें धर्म है, वह)

घयसित्तव्व पावए– घृत से सिक्त (सींची हुई) अग्नि की तरह, **परमं निव्वाणं–** परम निर्वाण (विशुद्ध आत्म–दीप्ति) को, **जाइ–** प्राप्त करता है।

विवेचन– चार दुर्लभ अंगों की प्राप्ति से मुक्ति के प्रति जो सीधा अभिमुख है, अर्थात् जो निष्कपट या विकल्परहित होकर एकमात्र मुक्ति की आराधना के प्रति तन्मय हो गया है, उसी की शुद्धि (हृदय से कषायकालुष्य का नाश) होती है और जो शुद्धि प्राप्त है, उसी में क्षमा आदि दसविध धर्म अविचलरूप से रहते हैं। जो अशुद्ध है, वह कषाय के उदय से धर्म से कदाचित् विचलित भी हो सकता है। धर्म में स्थिर हो जाने पर घी से सींची गई अग्नि के समान परम निर्वाण (आत्म–स्वस्थता– स्वरूप में पूर्ण स्थिरता) को प्राप्त होता है।

कर्म–हेतुओं को दूर करने से ऊर्ध्वदिशा–प्राप्ति

मूल- विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं॥13॥

अन्वयार्थ– कम्मुणो– कर्म के, **हेउं–** हेतु को, **विगिंच–** दूर करके, **खंतिए–** क्षमा से, **जसं संचिणु–** यश–संयम का संचय करके (वह साधक), **पाढवं सरीरं–** पार्थिव शरीर को **हिच्चा–** छोड़कर, **उड्ढं दिसं–** ऊर्ध्व दिशा (स्वर्ग अथवा मोक्ष) की ओर, **पक्कमई–** जाता है।

विवेचन– मनुष्यत्व आदि के प्रतिबन्धक कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति आदि उपादान कारणों को दूर करके क्षमा से, उपलक्षण से मार्दव, आर्जव आदि शेष 9 धर्मों से, यश के कारणरूप संयम या विनय को संचित करो। इस प्रकार करने से साधक पार्थिव शरीर छोड़कर ऊर्ध्वदिशा की ओर प्रगति करता है।

जिन्हें तद्भवमुक्ति नहीं होती, उनकी गति के लिए आगे की गाथाओं में कहते हैं–

विविध शीलाराधना से देवलोकों की प्राप्ति

मूल- विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तर-उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं॥14॥

अन्वयार्थ– विसालिसेहिं सीलेहिं– विसदृश (अपने–अपने चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशमानुसार विविध प्रकार के) शीलों (व्रतरूप आचारों) के पालन से, **जक्खा–** यक्ष–देव होते हैं। **उत्तर–उत्तरा–** वे (समृद्धि से) उत्तरोत्तर, **महासुक्का व–** महाशुक्ल–सूर्य–चन्द्र की भाँति, **दिप्पंता–** दैदीप्यमान होते हैं। (और तब) वे, **अपुणच्चवं–** 'स्वर्ग से पुनः च्यवन नहीं होता' **मन्नंता–** ऐसा मानने लगते हैं।

विवेचन– प्रस्तुत गाथा में गृहस्थ और साधु दोनों के व्रत–शील–रूप आचारों से देव बनने की बात कही है, इसीलिए विसदृश विशेषण प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि गृहस्थों और साधुओं के, उनमें भी विविध कोटि के गृहस्थों और विभिन्न कोटि के साधुओं के व्रत–शील के पालन में अन्तर होता है।

मूल- अप्पिया देवकामाणं, कामरूव-विउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वा वाससया बहू॥15॥

अन्वयार्थ– देवकामाणं– (पूर्वभव–कृत सुकृत के कारण) दिव्य कामभोगों के प्रति (अपने आपको), **अप्पिया–** अर्पित किये हुए वे, **कामरूव विउव्विणो–** अपनी इच्छानुसार रूप बनाने (वैक्रिय करने) में समर्थ होते हैं, तथा **बहूनि–** अनेक (असंख्यात), **पुव्वा वाससया–** सैंकड़ों पूर्व वर्ष तक, **उड्ढं कप्पेसु–** उर्ध्व (उच्च) कल्पों (अर्थात्–सौधर्म आदि बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक और पांच अनुत्तर विमान) में, **चिट्ठंति–** रहते हैं।

विवेचन– पूर्व जन्म में किये हुए शुभकर्मों (पुण्य कृत्यों) के फलस्वरूप वे देव दिव्य काम–भोगों के लिए अर्पित से (प्राप्त), एवं इच्छानुकूल रूप–सम्पादन की शक्ति से युक्त होकर ऊर्ध्वकल्पों (देवलोकों) में सैंकड़ों पूर्व वर्षों तक अपनी–अपनी आयुष्यस्थिति पूर्ण होने तक–रहते हैं।

मनुष्यभव में दस अंगों सहित उत्पत्ति

मूल- तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायइ॥16॥

मूल- खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ॥17॥

मूल- मित्तवं नाइवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो-बले॥18॥

अन्वयार्थ– तत्थ– उन देवलोकों में (वे देव), **जहाठाणं–** अपनी शीलाराधना के अनुरूप स्थान में अथवा अपनी स्थिति के अनुसार, **ठिच्चा–** रहकर, **आउक्खए–** आयुष्य का क्षय होने पर, **चुआ–** च्युत होकर, **माणुसं जोणिं–** मनुष्य योनि को, **उवेंति–** प्राप्त होते हैं। (और वहाँ), **से–** वे **दसंगे–** दस अंगों वाली भोग्यसामग्री से युक्त होकर, **अभिजायइ–** उत्पन्न होता है॥16॥

खेत्तं– क्षेत्र (खेतों की भूमि), **वत्थुं–** वास्तु (गृह) **च–** और, **हिरण्णं–** सोना, **पसवो दासपोरुसं–** पशु (गाय–भैंस आदि पशुगण) दास और पौरुषेय (पैदल चलने वाले सैन्य समूह), जहाँ, **चत्तारि कामखंधाणि–** ये चार कामस्कन्ध होते हैं, **तत्थ–** वहाँ (उन कुलों में), **से–** वह, **उववज्जइ–** उत्पन्न होता है॥17॥

(वह) **मित्तवं–** सन्मित्रों से युक्त, **नाइवं–** ज्ञातिवान्, **उच्चागोए–** उच्चगोत्रीय, **वण्णवं–** सुन्दर वर्ण–रूप वाला, **अप्पायंके–** आतंकरहित (नीरोग), **महापन्ने–** महाप्राज्ञ (विद्वान्), **अभिजाए–** अभिजात (कुलीन अथवा विनीत), **जसो–** यशस्वी, (और) **बले–** बलवान, **होइ–** होता है॥18॥

भावार्थ– उन देवलोकों में यथायोग्य स्थान में (अथवा जितनी जिसकी स्थिति है, तदनुसार) रहकर वे देव अपना आयुष्य क्षय (पूर्ण) होने पर च्युत होते हैं और मनुष्य योनि पाते हैं। वहाँ वे दस अंगों (भोग–साधनों) से युक्त होतेहैं॥16॥

(वे दस अंग इस प्रकार हैं–) 1. क्षेत्र (खेतों की भूमि), और वास्तु (गृह), 2. हिरण्य (स्वर्ण), 3. पशुगण, और 4. दास और पौरुषेय (पदाति–समूह) अथवा जहाँ ये चार कामस्कन्ध होते हैं, वहाँ (उन कुलों में) वह उत्पन्न होता है॥17॥

वह सन्मित्रों से युक्त, ज्ञातिमान्, उच्चगोत्रीय, सुन्दर वर्ण (रूपवान्) रोगरहित, महाप्राज्ञ, अभिजात (कुलीन या विनीत), यशस्वी एवं बलवान् होता है॥18॥

विवेचन– दस अंग– 1. चार कामस्कन्ध, 2. मित्रवान्, 3. ज्ञातिमान्, 4. उच्चगोत्रीय, 5. वर्णवान्, 6. नीरोग, 7.महाप्राज्ञ, 8. अभिजात, 9. यशस्वी और 10. बलवान् (सामर्थ्यवान्)।

विशुद्ध धर्माराधन से केवलबोधि–लाभ

मूल- भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्वं विसुद्ध सद्धम्मे, केवलं बोहि-बुज्झिया॥19॥

अन्वयार्थ – (वह मनुष्य वहाँ), **अहाउयं–** आयुष्य पर्यन्त, **अप्पडिरूवे–** अप्रतिरूप (अनुपम), **माणुस्सए भोए–** मनुष्य सम्बन्धी भोगों को **भोच्चा–** भोग (अनुभव) कर (भी), **पुव्वं–** पूर्वजन्म में, **विसुद्ध सद्धम्मे–**

विशुद्ध– (नियाणा, अतिचार आदि से रहित) सद्धर्म के आराधक होने के कारण, **केवलं–** निर्मल (निष्कलंक), **बोहि–** बोधि का, **बुज्झिया–** अनुभव करते हैं।

विवेचन– माणुस्सए भोए– मनुष्य सम्बन्धी भोग– मनोज्ञ शब्दादि। अप्रतिरूप–अनन्यतुल्य।

केवलं बोहि बुज्झिया : अर्थ– केवल का अर्थ यहाँ निर्मल–निष्कलंक है। बोधि का अर्थ सम्यक्त्व, सम्यग्दृष्टि या सम्यक्श्रद्धा है। उस निष्कलंक बोधि को वह जीव प्राप्त कर लेता है।

चतुरंग दुर्लभता जानकर तप–संयमाराधना से सर्वकर्म–मुक्ति

मूल– चउरंगं दुल्लहं नच्चा, संजमं पडिवज्जिया।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए॥20॥ ॥त्ति बेमि॥

अन्वयार्थ– चउरंगं– पूर्वोक्त चार अंगों को, **दुल्लहं–** दुर्लभ, **नच्चा–** जानकर, **संजमं–** सर्वसावद्यविरतिरूप चारित्र– (संयम) को, **पडिवज्जिया–** अंगीकार करके, **तवसा–** बारह प्रकार के तपश्चरण द्वारा, **धुयकम्मंसे–** अवशिष्ट कर्मांश–कर्मों को क्षय करके, **सासए–** शाश्वत (निरन्तर अवस्थिति वाला) **सिद्धे–** सिद्ध–मुक्त, **हवइ–** हो जाता है।

त्ति बेमि– ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन– सासए सिद्धे : आशय– यहाँ शाश्वत सिद्ध हो जाता है, ऐसा कहने के पीछे आशय यह है कि आजीवक, बौद्धादि कुछ दार्शनिकों के मत में जीव सिद्ध होने के बाद भी पुनः संसार में आ जाता है, इसका निराकरण करने हेतु बताया गया है कि पुनः जन्म के कारणभूत कर्मबीज का सर्वथा उच्छेद हो जाने से सिद्ध सदाकाल स्थायी होते हैं।

"चाउरंगिज्जं नामं तइयं अज्झयणं समत्तं"

॥ चतुरंगीयः तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन : असंस्कृत

(चउत्थं अज्झयणं : असंखयं)

जीवन की असंस्कृतता एवं प्रमाद–स्थानों से दूर रहने का उपदेश

मूल- असंखयं जीवियं मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।

एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कण्णू विहिंसा अजया गहिंति॥1॥

अन्वयार्थ– जीवियं–जीवन, **असंखयं**–असंस्कृत है (टूटा हुआ सांधा नहीं जा सकता)। **मा पमायए**–अतः प्रमाद मत करो। **जरोवणीयस्स–** वृद्धावस्था के द्वारा जो मृत्यु के निकट पहुँचा दिया गया है, उसका, हु– निश्चय ही, **ताणं नत्थि–** कोई भी रक्षक नही है। **एवं–** ऐसा, **वियाणाहि–** विशेषरूप से समझ लो कि, **पमत्ते–** प्रमादी, **विहिंसा–** विशिष्ट हिंसक, **अजया–** अजितेन्द्रिय (अथवा अयत=असंयमी), **जणे–** मनुष्य, (मृत्यु के समय), **कण्णू–** किसकी शरण, **गहिंति–** ग्रहण करेंगे।

विवेचन – जीवन असंस्कृत इसलिए है कि आयुष्य के कण क्षण–क्षण में समाप्त होते जा रहे हैं। इस प्रतिक्षण टूटते हुए जीवन को सैकड़ों इन्द्र, देव, यहाँ तक कि भगवान् भी न तो जोड़ सकते हैं, और न ही बढ़ा सकते हैं। अतः क्षण का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

प्रमाद का अर्थ – आत्म–विस्मृति, शरीर, इन्द्रियाँ, धन परिवार आदि साधनों में आसक्त होकर अपने आत्म–स्वरूप को विस्मृत कर देना; तथा धर्मकार्य के प्रति अनुत्साह। प्रमाद के पाँच भेद बताये हैं – 1. मद्य, 2. विषय, 3. कषाय, 4. निद्रा और 5. विकथा। मद्य प्रमाद दो प्रकार का है – द्रव्यमद्य (शराब आदि नशीली चीजों के सेवन से होने वाला) तथा भावमद्य – (जाति, कुल, बल आदि 8 प्रकार के मदों से होने वाला), निद्रा के अन्तर्गत आलस्य, गलफत, लापरवाह, धर्माचरण के प्रति उपेक्षा आदि आ जाते हैं। अज्ञान, अंधविश्वास, मिथ्यादृष्टि, मिथ्या मान्यताएँ, भ्रांति आदि भाव–निद्रा के अन्तर्गत हैं। विकथा के अन्तर्गत स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा के अतिरिक्त व्यर्थ की गप्पें हांकना, निन्दा चुगली आदि में समय बर्बाद करना आदि हैं।

शास्त्रकार का आशय यह है कि जब बुढ़ापा आ जाएगा और मौत झांकने लगेगी, उस समय प्रमादी; जिसने कि जीवन के अमूल्य क्षणों को प्रमाद अथवा प्रमादजनित हिंसा, तथा अन्य पापों में बिताया है, किसकी शरण लेगा? धर्म की शरण तो प्राप्त हो नहीं सकेगी, क्योंकि धर्माचरण में तो उसने सदैव प्रमाद किया है। फलितार्थ यह है, जिसने प्रमाद के फलस्वरूप इस जीवन में अनेक दुःख पाए, उसे अगले जन्म में भी भयंकर कष्ट भोगने पड़ेंगे, उनसे बचाने वाला कोई नहीं होगा।

मिथ्या मान्यतारूप प्रमाद के विविध स्रोत

मूल- जे पावकम्मेहिं धणं मणुस्सा, समाययंती अमइं गहाय।

पहाय ते पास पयट्ठिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेंति॥2॥

अन्वयार्थ– जे– जो, **मणुस्सा–** मनुष्य, **अमइं गहाय–** कुबुद्धि के वश होकर, **पावकम्मेहिं–** पापकर्मों (पापकारी कामों) से **धणं–** धन, **समाययंती–** उपार्जित करते (कमाते) हैं, **ते–** वे, **पास–** स्त्री–पुत्रादि के पाश–बन्धन में पड़े हुए (या पास– उन्हें देख, (वे) **पयट्ठिए–** मौत के मुख में पड़े हुए), **नरे–** मनुष्य, **पहाय–**

(धनादि को यहीं) छोड़कर, **वेराणुबद्धा–** वैर (के हेतुरूप पापकर्मों) की परम्परा को बाँधे हुए, **नरयं–** नरक में, **उवेंति–** जाते हैं॥2॥

विवेचन – पावकम्मेहिं : तीन अर्थ 1. चूर्णि के अनुसार– हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह आदि कर्मों द्वारा, 2. बृहद्वृति के अनुसार– पाप के उपादानभूत छल, कपट, ठगी, मिलावट आदि अनुष्ठानों से और 3. महारम्भादि अकरणीय प्रवृत्तियों द्वारा।

पास : दो रूप : तीन अर्थ – 1. चूर्णि और वृहद्वृत्ति में–पश्य–देख, 2. सुखबोधा में 'पाश' (जाल–बन्धन) के समान पाश, यथा–हाथी आदि के लिए जैसे शृंखला आदि पाश–बन्धन हैं, वैसे ही मनुष्यों के लिए स्त्रियाँ बन्धन हैं। 3. पाश–दोष–रागद्वेष, तृष्णा आदि दोषों में फँसते हैं।

वेराणुबद्धा : तीन अर्थ – 1. वैर – परम्परा से कुटुम्ब, समाज आदि में वैर बाँध कर, 2. वयर–वज्र–पाप से बद्ध –(पाप बाँधकर), और 3. कर्म–कर्मों से बद्ध।

अमइं गहाय : दो रूप : दो अर्थ– (1)अमति–कुमति के वश होकर, (2) धन को अमृत समझ कर।

निष्कर्ष– पापकर्म से उपार्जित धन त्राणदायक होता है, यह मिथ्यामान्यतारूप प्रमाद मानव का अज्ञान है।

स्वकृत कर्मों का फल परभव में : इस भ्रान्त मान्यता का निराकरण

मूल- तेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।

एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि॥3॥

अन्यवार्थ–जहा– जैसे, **संधिमुहे–** सेंध के मुख–द्वार पर, **गहीए–** पकड़ा गया, **पावकारी–** पापकर्म करने वाला, **तेणे–** चोर, **सकम्मुणा–** अपने ही कर्म के कारण, **किच्चइ–** छेदा जाता (मृत्यु पाता) है, **एवं–** इसी प्रकार, **इह लोए–** इस लोक में, **च–** और, **पेच्च–** परलोक में, **पया–** (संसारी) जीव अपने ही कृतकर्मों से पीड़ित होते (दुःख पाते) हैं, (क्योंकि) **कडाण कम्माण–** किये हुए कर्मों का (फल भोगे बिना), **मोक्ख–** मोक्ष (छुटकारा या क्षय), **न अत्थि–** नहीं होता ॥3॥

विवेचन– प्रस्तुत सूत्र में इस मान्यता का खण्डन किया गया है कि जीव को इस जन्म में किये गये कर्मों–दुष्कर्मों का फल अगले जन्म में मिलता है फलतः इस भ्रान्तमान्यतारूप प्रमाद के कारण वह बेखटके पापकर्म करता जाता है। परन्तु भगवान् ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि जैसे– सेंध के मुँह (द्वार) पर पकड़ा जाने वाला चोर अपने उक्त पापकर्म के कारण वहीं छिन्न–भिन्न एवं लहूलुहान होकर तत्काल फल (दण्ड) पा लेता है। अतः एकान्त रूप से यह कथन सत्य नहीं है, कि कृतकर्म का फल परलोक में ही मिलता है, यहाँ नहीं। यहाँ भी मिलता है, और परलोक में भी मिलता है। किन्तु यह निश्चित है कि कर्म का फल अवश्यमेव (आगे या पीछे) भोगना पड़ता है। अतः दुष्कर्म करने से पूर्व भविष्य का या परिणाम का विचार करना चाहिए।

सबके लिए कृतकर्म में सबका हिस्सा : इस भ्रान्त मान्यतारूप प्रमाद का निराकरण

मूल- संसारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं।

कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बंधवयं उवेंति॥4॥

अन्वयार्थ– संसारमावन्न– संसार (दशा) को प्राप्त (संसारी) जीव, **परस्स अट्ठा–** पुत्र, स्त्री, मित्र आदि पर के लिए (दूसरे के निमित्त), **च–** अथवा (और), **जं–** जो, **साहारणं–** साधारण अर्थात् स्व और पर दोनों के लिए, (सम्मिलित फल वाला), **कम्मं–** कर्म, **करेइ–** करता है, **तस्स कम्मस्स–** उस कर्म के, **वेयकाले–** (फल) भोगने (वेदन करने) के समय, **ते–** वे, **बांधवा–** बान्धव (स्वजनादि, जिनके लिए उसने पापकर्म किया था), **बंधवयं न उवेंति–** बन्धुता–सहभागिता नहीं बँटाते – हिस्सेदार नहीं होते।

विवेचन– प्रस्तुत गाथा में इस भ्रान्त मान्यतारूप प्रमाद का निराकरण किया गया है कि एक व्यक्ति अगर अपने स्त्री–पुत्रादि स्वजनों के लिए कोई पापकर्म करता है तो उसका फल उन सबको भोगना पड़ता है। भगवान् ने इसका निराकरण करते हुए फरमाया कि उस कर्म के फलभोग के समय वे बान्धव सहभागी नहीं होते, उसमें हिस्सा नहीं बँटाते, स्वकृतकर्म का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है।

धन त्राणदायक है : इस मिथ्यामान्यता का खण्डन

मूल- वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमंमि लोए अदुवा परत्था।

दीवप्पणट्ठेव अणंतमोहे, नेआउयं दट्ठुमदट्ठुमेव॥5॥

अन्वयार्थ– पमत्ते– मद्यादि प्रमादग्रस्त मनुष्य, **वित्तेण–** धन से, **इमंमि लोए–** इस लोक में, **अदुवा–** अथवा, **परत्था–** परलोक में, **ताणं–** त्राण (संरक्षण), **न लभे–** नहीं पाता। **दीवप्पणट्ठेव–** अंधेरी गुफा में जिसका दीपक बुझ गया हो, उसकी भाँति, **अणंतमोहे–** अनन्त (असीम) मोह वाला जीव, **नेआउयं मग्गं–** न्याययुक्त मार्ग (अर्थात्– सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय वाला मोक्षमार्ग), **दट्ठुं–** देख कर भी, **अद्ट्ठुमेव–** नहीं देखता।

विवेचन– कुछ लोग यह मानते हैं कि येन–केन–प्रकारेण धन अर्जित करके उससे अपनी सुरक्षा कर लेंगे, धन ही सब तरह से कल्याणकारी है, यह मिथ्यामान्यतारूप प्रमाद है। किन्तु भगवान् ने कहा कि जो हिंसा, अन्यायादि से धन कमाता है, उस प्रमादी व्यक्ति को धन से कहीं भी सुरक्षा संभव नहीं। धनासक्त प्राणी पर्वतीय गुफा में बुझे दीप वाले पुरुष की तरह सन्मार्ग को देखकर भी ज्ञानदीप के बुझ जाने से दु:खी हो जाता है।

धन से मन में चंचलता, भय, अविश्वास, चिन्ता, अहंभाव और व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से जो धन अपनी सुरक्षा के लिए दूसरों से अपेक्षा रखता हो, वह पर की रक्षा क्या करेगा?

भारण्डपक्षीसम अप्रमत्त रहने का उपदेश

मूल- सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी, न वीससे पंडिए आसुपन्ने।

घोरा मुहुत्ता, अबलं सरीरं, भारंडपक्खीव चरेऽप्पमत्तो॥6॥

अन्वयार्थ– आसुपन्ने– आशुप्रज्ञ (उचित कार्य में शीघ्र प्रवृत्त होने की बुद्धि वाला), **पंडिए–** पण्डित (ज्ञानी साधक), **सुत्तेसु यावी–** मोहनिद्रा में सोये हुए लोगों में रहकर भी, **पडिबुद्धजीवी–** सब तरह से जाग्रत रहकर जीए। **न वीससे–** (प्रमाद में क्षणभर भी) विश्वास न करें। **मुहुत्ता–** काल के क्षण, **घोरा–** अत्यन्त भयानक हैं, (और) **सरीरं–** शरीर, **अबलं–** निर्बल है, (यह जान कर), **भारंडपक्खीव–** भारण्डपक्षी की तरह, **अप्पमत्तो–** अप्रमादी होकर, **चरे–** विचरण करना चाहिए।

भावार्थ– आशुप्रज्ञ पण्डित साधक को मोहनिद्रा में सोये हुए प्रमादी लोगों के बीच रहकर भी सब तरह से जागरूक (सतर्क) रहना चाहिए। प्रमाद (विविध प्रकार के प्रमाद) का एक क्षण भी विश्वास नहीं करना

चाहिए, क्योंकि काल अत्यन्त भयानक (घोर) है, और शरीर निर्बल है। अतः भारण्डपक्षी के समान सदा अप्रमत्त (सावधान) होकर विचरण करना चाहिए।

सत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी : यहाँ सुप्त शब्द के तीन अर्थ किये गए हैं– (1)जो द्रव्यतः सोया हुआ हो, (2)भावतः धर्माचरण के प्रति अजाग्रत हो, (3)जो प्रमादी–प्रेयार्थी अज्ञानी हो। ऐसे सुप्त लोगों के साथ रहने का अवसर आए तो भी अप्रमत्त और विशेष जाग्रत रहकर जीए।

प्रतिबुद्ध भी दो प्रकार का होता है– (1)जो नींद में न हो, तथा (2)जो धर्माचरण के लिए जाग्रत हो। आशय यह है कि अविवेकी, प्रेयार्थी, प्रमादी एवं प्रसुप्त लोगों के गतानुगतिक रूप से न सोए, किन्तु विशेष रूप से यावज्जीव जागृत रहे।

भारंडपक्खी : भारण्डपक्षी : व्याख्या– भारण्डपक्षी– दो प्राणी संयुक्त होते हैं, जो जन्म से ही एक दूसरे से जुड़े होते हैं। उनके एक पेट तथा तीन पैर होते हैं। सिर अलग–अलग होता है। एक मुख जो खाता है, उसे दूसरा भी खाता है; अथवा नहीं भी खाता। दो–दो अंग साथ–साथ जुड़े होने से भारण्डपक्षी को दोनों अंगों की विरुद्ध प्रवृत्ति न हो, इसकी बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। इसलिए कहा गया है कि साधक को भारण्डपक्षी के समान सदैव सावधान रहना चाहिए।

घोरा महुत्ता : आशय– मुहूर्त्त– शब्द उपलक्षण से समस्त काल का सूचक है। प्राणी की आयु प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है, अतः प्राणी की आयु अल्प होने से तथा मृत्यु का काल अनियमित होने से 'काल' को 'घोर' कहा गया है – न जाने कब वह आ धमके और प्राणी को उठा ले जाए, उसके जीवन का अपहरण कर ले।

मूल- **चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।**

लाभंतरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी॥7॥

अन्वयार्थ– पयाइं– साधक पद–पद पर, **परिसंकमाणो–** दोषों की आशंका रखता हुआ, **चरे–** चले, तथा (धन, जन आदि), **इह–** इस जगत् में, **जं किंचि–** जो कुछ भी सचेतन–अचेतन पदार्थ हैं उन्हें, **पासं–** पाशरूप (संयम प्रवृत्ति के लिए बन्धन रूप), **मण्णमाणो–** मानकर सावधान रहे। **लाभंतरे–** जब तक सम्यग्दर्शनादि नये–नये गुणों की प्राप्ति हो, तब तक, **जीवियं–** जीवन को, **बूहइत्ता–** आहार पानी आदि से इसका संवर्धन करे, **पच्छा–** बाद में (जब यह विशेष अशक्त हो जाए, इसके कोई अपूर्व लाभविशेष न हो, तब) **परिन्नाय–** ज्ञ–परिज्ञा से यह जान कर कि अब यह शरीर सम्यग्दर्शनादि गुणविशेष का हेतु नहीं रहा, अतः इससे निर्जरा नहीं हो सकती; प्रत्याख्यान–परिज्ञा से, **मलावधंसी–** कर्ममल का ध्वंस (नाश) करने वाला (भक्तप्रत्याख्यान–संथारा) करके रहे।

विवेचन– चरे पयाइं परिसंकमाणो : दो व्याख्याएँ– (1)दोषों से शंकित होता हुआ पैर (सावधानी से) रखकर चले, (2)धर्म के पदों–स्थानों (मूलगुणों) में कहीं भूल न हो जाए, ऐसी शंका करता हुआ संयममार्ग में विचरण करे।

"जं किंचि पासं" : तीन व्याख्याएँ– (1)जो कुछ भी थोड़ा–सा भी प्रमाद या दोष (दुश्चिन्तित, दुर्भाषित, दुश्चेष्टित के रूप में प्रमाद) है, वह पाश रूप बन्धनकारक समझता हुआ, (2)संसार में जो भी धन, जन आदि पदार्थ हैं, या (3)गृहस्थों से परिचय आदि हैं, उन्हें पाशरूप मानता हुआ चले।

पच्छा परिण्णाय मलावधंसी: तात्पर्य– इसके पश्चात् जब शरीर जरा–जीर्ण, अशक्त हो जाए तब ज्ञ–परिज्ञा से स्वयं जाने कि वास्तव में इस शरीर से अब सम्यग्दर्शनादि विशिष्ट गुणों की प्राप्ति नहीं होती, न

ही निर्जरा होती है, बल्कि अभी इसमें थोड़ा–सा बल–वीर्य पुरुषार्थ है, अतः प्रत्याख्यान–परिज्ञा से कषाय एवं आहार की संल्लेखना एवं यावज्जीवन अनशन करके समाधि–मरणपूर्वक इस शरीर का त्याग कर दे।

स्वच्छन्दता–निरोध : अप्रमत्तता और मुक्ति का कारण

मूल- छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं, आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।

पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं॥8॥

अन्वयार्थ– जहा– जिस प्रकार, **सिक्खिय वम्मधारी आसे–** शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी अश्व, **छंदं निरोहेण–** (युद्ध में) स्वच्छन्दता का निरोध करने से, **मोक्खं उवेइ–** (विजयी होकर युद्ध के त्रास से) मुक्त (स्वतन्त्र) हो जाता है, (वैसे ही स्वेच्छाचार को रोक कर गुरु–आज्ञा में रहकर शिक्षित एवं संयम–कवच धारक), **मुणी–** मुनि भी, **खिप्पं–** शीघ्र ही, **मोक्खं–** संसार से मुक्त (पार) **उवेइ–** हो जाता हैं। **तम्हा–** इसलिए, **पुव्वाइं वासाइं–** पूर्व वर्षों में (साधना के प्रारम्भिक वर्षों में) मुनि, **अप्पमत्तो–** अप्रमत्त होकर, **चरे–** विचरण करे।

भावार्थ– जैसे शिक्षित (शिक्षक के अधीन रहकर अभ्यास किया हुआ) और कवचधारी घोड़ा स्वच्छन्दता का निरोध करने से युद्ध में विजयी होकर उसके त्रास से मुक्त हो जाता हे, वैसे ही स्वेच्छाचार को रोककर, गुरु के अधीन रहकर शिक्षा प्राप्त और संयमकवचधारी मुनि भी शीघ्र ही संसार से मुक्त (पार) हो जाता है। इसलिए साधना के प्रारम्भिक वर्षों में मुनि अप्रमत्त होकर विचरण करे।

विवेचन– 'साधना के लिए गुरु, संघ आदि समूह विध्नकारक हैं, अकेले स्वतंत्र रहकर अपनी साधना करनी चाहिए' इस प्रकार की एकान्त एवं भ्रान्त मान्यतारूप प्रमाद का भगवान् महावीर ने इस गाथा द्वारा शिक्षित अश्व की उपमा देकर निराकरण किया है और साधकों को निर्देश दिया है कि वे साधना के प्रारम्भिक जीवन से ही अप्रमाद का अभ्यास गुरु एवं संघ के अधीन रहकर करें। तभी वे संसार–संग्राम से पार हो सकेंगे, अन्यथा स्वच्छन्दाचाररूप प्रमाद में पड़कर रहने वाले को विषय–वासना, तृष्णा एवं कषाय अभिभूत कर सकते हैं।

छंदं निरोहेण : तीन व्याख्या– (1)स्वच्छन्दता–निषेध– गुरु के अधीन अपने आग्रह से रहित होकर प्रवृत्ति करने वाला संक्लेश रहित होने से कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। (2)छन्दसा–गुरु के अभिप्राय से आहारादि परिहाररूप निरोध करने से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है, (3)अथवा छन्द का अर्थ वेद या आगम है, इस दृष्टि से छन्दसा–आगमविहित आज्ञानुसार, इन्द्रियादि निग्रहात्मक छन्द निरोध करने से मोक्ष प्राप्त होता है।

शाश्वतवादियों की मिथ्यामान्यता का खण्डन

मूल- स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा, एसोवमा सासयवाइयाणं।

विसीयई सिढिले आउयंमि, कालोवणीए सरीरस्स भेए॥9॥

अन्वयार्थ– (जो व्यक्ति) **पुव्वं–** पहले अप्रमत्त नहीं होता, **स–** वह व्यक्ति, **एवं–** पूर्व की तरह, **पच्छा–** पीछे (जीवन की सन्ध्यावेला में), **न लभेज्ज–** (अप्रमत्त अवस्था को) प्राप्त नहीं कर सकता। **एसोवमा–** (पिछले जीवन में अप्रमत्त हो जाएँगे), ऐसी उपमा (धारणा), **सासयवाइयाणं–** शाश्वतवादियों की है, (क्योंकि पूर्वजीवन में प्रमत्त रहने वाला व्यक्ति), **आउयंमि सिढिले–** आयुष्य के शिथिल होने पर, **कालोवणीए सरीरस्स भेए–** काल (मृत्यु) के प्रभाव से शरीर का भेद उपस्थित होने पर, **विसीयई–** विषाद (खेद) पाता है।

विवेचन– कई व्यक्तियों की यह मिथ्या धारणा थी कि "हम तो अजर अमर हैं, इसलिए अभी क्या जल्दी है? हम अन्तिम समय में छन्दनिरोधरूप अप्रमत्त–अवस्था प्राप्त (या धर्म) कर लेंगे, परन्तु भगवान् ने उन शाश्वतवादियों की उक्त मिथ्या धारणा का निराकरण करते हुए कहा है कि जिनका निरुपक्रम आयुष्य है, वे कदाचित् अपने को शाश्वत की तरह मानें तो समझा जा सकता है, किन्तु पानी के बुलबुले की तरह जिनकी सोपक्रम आयु अनिश्चित एवं क्षणभंगुर है, वे जीवन के उत्तरार्ध में छन्दनिरोधरूप अप्रमादावस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। बल्कि जब मनुष्य आयुष्य कर्म आत्म–प्रदेशों से अलग होने लगता है, तथा मृत्यु के समय औदारिक शरीर के छूटने की स्थिति आती है, तब पछताता है कि मैंने अपने जीवन में कोई सुकृत नहीं किया, इसलिए अब मुझे अपार संसार समुद्र में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

निष्कर्ष यह है कि साधक को प्रारम्भ से ही धर्माचरण में प्रमाद नहीं करना चाहिए। किन्तु परलोकगमन आज होगा या कल, किस समय होगा? यह कोई निश्चित नहीं है, यह जानता हुआ भी मूढ़ व्यक्ति मोहवश सुख से सोता है।

पूर्वजीवन से ही अप्रमत्त रहने का उपदेश

मूल- **खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।**

समिच्च लोयं समया महेसी, अप्पाणुरक्खी चरेऽप्पमत्तो॥10॥

अन्वयार्थ– (कोई भी व्यक्ति) **खिप्पं–** तत्काल, **विवेगमेउं–** विवेक को प्राप्त, **न सक्केइ–** नहीं कर सकता। **तम्हा–** इसलिए (अभी से), **कामे पहाय–** कामभोगों (इन्द्रियविषयों) का परित्याग करके, **समुट्ठाय–** (मोक्ष मार्ग में) सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर (तथा) **लोयं–** लोक–समस्त प्राणि–जगत् का, **समया–** समभाव से, **समेच्च–** सम्यक् अवलोकन करो–जानो। **महेसी–** महर्षि (या महैषी–मोक्ष का इच्छुक), **अप्पाणुरक्खी–** कुगति से आत्मा की रक्षा करने वाले साधक। **अप्पमत्तो–** प्रमादरहित होकर, **चरे–** विचरण करो।

भावार्थ– कोई भी व्यक्ति आत्म–विवेक झटपट नहीं प्राप्त कर सकता, इसलिए अभी से ही कामभोगों का परित्याग करके मोक्षमार्ग के लिए समुद्यत होकर लोक (प्राणिजगत) का समत्वभाव से सम्यक्रूप से विचार करो। हे आत्मगुणरक्षक महर्षि या मोक्ष के इच्छुक साधक! समतापूर्वक अप्रमत्तरूप से विचरण करते रहो।

प्रमाद का मूल : राग–द्वेष के त्याग का निर्देश

मूल- **मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं, अणेगरूवा समणं चरंतं।**

फासा फुसंती असमंजसं च, न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से॥11॥

अन्वयार्थ– मुहुं मुहुं– बार–बार, **मोहगुणे–** मोह के गुण–शब्दादि विषयों पर, **जयंतं–** विजय प्राप्त करते हुए और, **चरंतं–** संयममार्ग में विचरण करते हुए, **समणं–** श्रमण को, **अणेगरूवा–** कठोर, कुरूप आदि अनेक प्रकार के, **फासा–** स्पर्श, **असमंजसं–** प्रतिकूलरूप से, **फुसंती–** स्पर्श करते हैं, अर्थात्– वे परेशान करते हैं, (अतः) **तेसु–** उन अमनोज्ञ प्रतिकूल विषयों पर, **भिक्खू–** साधु, **मणसा–** मन से भी, **न पउस्से–** प्रद्वेष न करे।

विवेचन– मोहगुणे जयंतं : तात्पर्य– मोहित करने वाले शब्दादि गुणों–विषयों को पराजित कर देने पर भी पुनः पुनः उस पर विजय पाने के लिए प्रयत्नशील।

ण पउस्से : व्याख्या – अमनोज्ञ एवं अरुचिकर शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श (कर्कश, कठोर आदि) प्राप्त होने पर– हाय! मर गए! कब तक ये परेशान करते रहेंगे? इस प्रकार का प्रद्वेषयुक्त विचार न करे; न ही इस प्रकार कहे, और न ही परिहार करे।

अनुकूल स्पर्श एवं कषाय पर विजय का निर्देश

मूल- मंदा य फासा बहु-लोहणिज्जा, तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा।

रक्खेज्ज कोहं, विणएज्ज माणं, मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं॥12॥

अन्वयार्थ– मंदा– हिताहितविवेकीजन को भी मन्द करने वाले– अनुकूल, **फासा य–** स्पर्श–शब्दादि विषय, **बहु–लोहणिज्जा–** बहुत ही लुभावने होते हैं (साधक), **तहप्पगारेसु–** तथाप्रकार के (उन अनुकूल) विषयों में, **मणं न कुज्जा–** मन को न लगाए– अर्थात्– मृदु स्पर्श, मधुर रस आदि अनुकूल विषयों पर संकल्प या विचार भी न करे। **कोहं–** क्रोध से, **रक्खेज्ज–** अपने को बचाए रखे, **माणं–** मान को, **विणएज्ज–** दूर करे, **मायं न सेवे–** माया का सेवन न करे और **लोहं पयहेज्ज–** लोभ का त्याग करे।

भावार्थ– विचारशक्ति को मन्द करने वाले अनुकूल कामभोगों के स्पर्श बहुत ही लुभावने होते हैं, संयमी साधक तथाप्रकार के उन मन्दस्पर्शों की ओर मन को जरा भी आकृष्ट न होने दे। अप्रमत्त साधक को चाहिए कि वह क्रोध से स्वयं को बचाए, अहंकार को हटाए, माया का सेवन न करे और लोभ का त्याग करे।

पूर्व सूत्र में प्रतिकूल विषयों के प्रति द्वेष का त्याग बताया गया है, जबकि इस सूत्र में अनुकूल विषयों के प्रति राग का त्याग बताया है।

अप्रमत्त साधक अन्तिम क्षण तक जागृत रहे

मूल- जे संखया तुच्छ परप्पवाई, ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।

एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो, कंखे गुणे जाव सरीरभेए॥13॥

अन्वयार्थ– जे– जो लोग, **संखया–** कृत्रिमरूप से संस्कृत–संस्कारी हैं, अथवा संस्कृत भाषा में पटु है, या जीवन को संस्कृत–संधेय मानते हैं, **ते–** वे, **तुच्छपरप्पवाई–** तुच्छ (स्वेच्छाचारी होने से निःसार) हैं और परप्रवादी (दूसरों की निन्दा करने वाले या अन्यतीर्थिक) हैं (तथा) **पिज्जदोसाणुगया–** प्रेय–राग और द्वेष से ग्रस्त हैं, (इसलिए) **परज्झा–** परवश (रागद्वेष के आधीन) हैं, **एए अहम्मे त्ति–** इन्हें धर्मरहित समझकर, **दुगुंछमाणो–** उनसे दूर रहे, (और) **जाव सरीरभेए–** शरीर छूटने तक, **गुणे–** अप्रमत्त भाव से ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति की, **कंखे–** आकांक्षा करता रहे। **त्ति बेमि–** ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ– जो कृत्रिम संस्कारी हैं, अथवा संस्कृतपटु हैं, या जीवन को संस्कृत मानते हैं, वे परप्रवादी तुच्छ (निःसार– तत्त्वज्ञान से शून्य) हैं, और राग–द्वेष में फंसे होने से परतन्त्र हैं। उन्हें अधर्मी समझकर उनसे दूर रहे और अन्तिम श्वास तक ज्ञानादि गुणों की आकांक्षा करे।

निष्कर्ष– 'ऐसे धर्मशून्य एवं संस्कृतवादी लोगों की छाया से दूर रहकर अन्तिम श्वास तक अप्रमत्त रहकर आत्मगुणों की आराधना करे।'

॥ असंस्कृत : चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

तत्त्वार्थ सूत्र–

तत्त्वार्थ सूत्र

परिचय :

तत्त्वार्थ सूत्र का पूरा नाम तत्त्वार्थाधिगम सूत्र है, जिसका अर्थ है तत्त्वों के अर्थ का ज्ञान कराने वाला संक्षिप्त ग्रंथ। इस सूत्र के रचनाकार वाचक उमास्वाति हैं। इनकी माता का नाम 'उमा' व पिता का नाम 'स्वाति' था। इन्होंने माता–पिता के प्रति अनन्य भक्ति व उपकार–भावना की स्मृति के रूप में स्वयं को 'उमास्वाति' के नाम से प्रसिद्ध किया।

उमास्वाति ने ग्यारह अंगों के ज्ञाता घोषनन्दी क्षमाश्रमण के पास दीक्षा ग्रहण की तथा वाचक वंश के मुख्य आचार्य 'शिवश्री' के पास विद्या–अध्ययन किया। आचार्य उमास्वाति बड़ी कुशाग्र बुद्धि के धनी थे, इन्होंने 500 ग्रंथों की रचना की। वर्तमान में प्रशमरति प्रकरण एवं तत्त्वार्थ सूत्र, ये दो रचनाएँ ही उपलब्ध हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र जैन तत्त्वज्ञान का विशिष्ट संग्राहक ग्रंथ है। इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नत्रयी का युक्तिपूर्ण निरूपण, छह द्रव्य, भूगोल–खगोल सम्बन्धी जैन मान्यताएँ, जीव–अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध व मोक्ष तत्त्वों का सर्वांगीण विवेचन उपलब्ध है। यह ग्रंथ दस अध्ययनों में विभाजित है। दसों अध्ययनों में कुल 344 सूत्र हैं, जो सभी संस्कृत भाषा में हैं। ये सूत्र विभिन्न आगम–शास्त्रों के आधार से तैयार किये गये हैं।

प्रथम अध्याय में मोक्षमार्ग का निरूपण, मुक्ति का सौपान, सम्यग्दर्शन, ज्ञान की विस्तृत जानकारी दी गयी है। दूसरे अध्याय में संसारी व सिद्धों का विभिन्न अपेक्षाओं से स्वरूप बतलाने के साथ ही तीसरे अध्याय में नरक, तिर्यंच व मनुष्य गति का दिग्दर्शन कराया गया है। चौथे अध्याय में देवों का स्वरूप तथा चारों गति के जीवों की स्थिति बतलायी है। पाँचवें अध्याय में अजीव द्रव्य का मुख्यता से विवेचन करने के साथ छहों द्रव्यों की जानकारी दी गई है। छठे अध्याय में जीव–अजीव के सम्बन्ध का कारण–आस्रव तत्त्व का विवेचन तथा सातवें में आस्रवों को रोकने के उपाय रूप संवर तत्त्व का विवेचन है। आठवें अध्याय में कर्मों का बन्ध, कर्मों की प्रकृतियों की जानकारी तथा नवमें अध्याय में पूर्वबद्ध कर्मों को अलग हटाने का उपाय–निर्जरा तत्त्व का विवेचन किया है। दसवें और अन्तिम अध्याय में साधक के जीवन के अन्तिम लक्ष्य को पाने हेतु मोक्ष तत्त्व का विवेचन किया गया है।

प्रथम अध्याय

मोक्ष प्राप्ति के साधन :

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।1।

अर्थ– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र–ये तीनों मिलकर मुक्ति का मार्ग (साधन) है।

कर्मबन्ध और बन्ध के कारणों के अभाव से होने वाला आत्मा का परिपूर्ण विकास मोक्ष है। अर्थात् ज्ञान और वीतराग भाव की पराकाष्ठा (परिपूर्णता) ही मोक्ष है।

प्रश्न– मुक्ति प्राप्ति के साधन कितने होते हैं?

उत्तर– प्रस्तुत प्रथम सूत्र में मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं। आगमों में मुक्ति प्राप्ति के साधन दो, तीन तथा चार भी बताये हैं। जहाँ दो साधन ज्ञान और क्रिया (आचरण) कहे, वहाँ ज्ञान में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान तथा क्रिया में सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप का समावेश समझना चाहिये। जहाँ तीन साधन कहे हैं जैसा कि इस सूत्र में भी बताये हैं, वहाँ भी चारित्र में सम्यक् तप का भी समावेश समझना चाहिये। उत्तराध्ययन सूत्र के 28वें अध्ययन में मोक्ष के चार साधन बतलाये हैं, जैसाकि कहा हैं–

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसीहिं ॥

अर्थात् सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चारों मिलकर मुक्ति का मार्ग है, ऐसा तत्त्वदर्शी जिनेश्वर भगवन्तों ने बतलाया है।

प्रश्न– मोक्ष प्राप्ति का प्रथम साधन सम्यग्दर्शन है अथवा सम्यग्ज्ञान?

उत्तर– मोक्ष प्राप्ति के साधनों में दोनों ही प्रकार का क्रम आगमों में पढ़ने–देखने में आता है। जहाँ पर सम्यग्ज्ञान को प्रथम साधन माना है, वह व्यवहार दृष्टि से समझना चाहिये। जब तक ज्ञान ही नहीं होगा तब तक श्रद्धा कैसे हो सकेगी। आगमिक व पारमार्थिक दृष्टि से प्रथम साधन सम्यग्दर्शन को समझना चाहिये। क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान व आचरण दोनों ही सम्यक् (मोक्ष मार्ग के साधन) नहीं बन पाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के 28वें अध्ययन में कहा भी है–

नादंसणिस्स णाणं, नाणेण विणा ण हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥ 28/30॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। बिना सम्यक्ज्ञान के सम्यक् चारित्र का गुण नहीं होता। चारित्र गुण से हीन जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं होता और मोक्ष हुए बिना परम शान्ति एवं शाश्वत सुख रूप निर्वाण नहीं होता।

प्रश्न– सम्यक् शब्द से क्या आशय है?

उत्तर– सम्यक् शब्द का अर्थ है– यथार्थ, वास्तविक, सही। अर्थात् तीर्थंकर भगवन्तों ने जीव–अजीव आदि तत्त्वों का अथवा देव–गुरु–धर्मादि का जो स्वरूप बतलाया है, उसे वैसा ही जानना, मानना, पालन करना 'सम्यक्' कहलाता है।

प्रश्न– सम्यक् ज्ञान, दर्शन व चारित्र का संक्षिप्त स्वरूप बतलाइए।

उत्तर– नयों और प्रमाणों से जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध (ज्ञान) होना सम्यग्ज्ञान है। नय का अर्थ है– पदार्थ का किसी अपेक्षा विशेष से ज्ञान करना तथा प्रमाण का अर्थ है– सामान्य रूप से पदार्थ का बिना अपेक्षा विशेष से ज्ञान करना।

संशय, विभ्रम और विपर्यय रहित ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सामान्य रूप से अनेक वस्तुओं में घूमता हुआ अनिश्चित ज्ञान संशय है। जिसमें कोई निश्चय न हो, 'कुछ है' मात्र इतना ही बोध हो, वह विभ्रम कहलाता है। अन्धेरे में रस्सी को साँप या सीप को चाँदी समझ लेना विपर्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान है। ज्ञान में संशय आदि दोष मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के कारण होते हैं।

जिनेश्वर भगवन्तों के वचनों पर दृढ़ एवं निःशंक श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। जैसाकि कहा है– तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं।

देव–गुरु–धर्म एवं आत्म स्वरूप का परिपूर्ण श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन कहलाता है।

कर्म बन्ध के हेतुओं का त्याग कर महाव्रत, समिति–गुप्ति आदि का पालन करना, सभी पापों का तीन करण, तीन योग से त्याग करना सम्यग्चारित्र कहलाता है।

प्रश्न– ज्ञान व चारित्र के सम्यक् होने का मूलभूत कारण सम्यग्दर्शन को क्यों माना गया है?

उत्तर– क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान व चारित्र सम्यक् बनते हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर व्यक्ति का दृष्टिकोण, लक्ष्य एवं प्राथमिकताएँ बदल जाती हैं। सम्यग्दर्शन से व्यक्ति आत्माभिमुखी हो जाता है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में चाहे वह ज्ञान की हो अथवा चारित्र की, उनमें मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य रहता है। कर्म निर्जरा की प्राथमिकता रहती है, जबकि मिथ्यात्वी की हर प्रवृत्ति में संसार–पोषण एवं भौतिक सुखों की प्राप्ति ही लक्ष्य रहता है। यही कारण है कि विपुल एवं स्पष्ट ज्ञान व क्रिया भी सम्यग्दर्शन के अभाव में अज्ञान रूप है तथा अल्प एवं अस्पष्ट ज्ञान तथा क्रिया भी सम्यग्दर्शन के कारण, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप माने जाते हैं। आत्मलक्ष्यी या मोक्षलक्ष्यी ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। जिस ज्ञान के साथ आत्मा एवं मोक्ष के प्रति यथार्थ श्रद्धा होती है वही सम्यग्दर्शन है। आत्मगुणों के प्रकट करने में सहायक क्रियाओं का पालन 'सम्यग्चारित्र' है।

सम्यग्दर्शन के लक्षण :

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।2।

अर्थ– तत्त्वों के अर्थ का सही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्दर्शन की संक्षिप्त परिभाषा बतलायी गयी है। इसमें यद्यपि सम्यग्दर्शन के एक ही लक्षण– आस्था को प्रमुखता देते हुए कहा है, तथापि इसमें सभी लक्षणों का समावेश समझना चाहिये।

प्रश्न– सम्यग्दर्शन के लक्षण कौन–कौनसे हैं?

उत्तर– शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था, ये पाँचों सम्यग्दर्शन के लक्षण बतलाये गये हैं।

प्रश्न– सम्यक् दर्शन की अन्य परिभाषाएँ क्या–क्या हैं?

उत्तर– (1) देव–गुरु–धर्म व आत्म–स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है।

(2) यथार्थ रूप से पदार्थों का निश्चय करने की रूचि को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(3) सात प्रकृतियों का क्षय–उपशम–क्षयोपशम होने से आत्मा में जो श्रद्धा गुण विकसित होता है, उसे भी सम्यग्दर्शन कहते हैं।

(4) आत्मा की आत्मा से अनुभूति होना, श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु :

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।3।

अर्थ– वह (सम्यग्दर्शन) दो प्रकार से प्राप्त होता है– (1) निसर्ग स्वभाव से और (2) अधिगम (उपदेश) से प्राप्त सम्यग्दर्शन।

प्रश्न– निसर्गज सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर– निसर्ग का अर्थ है– परिणाम अथवा स्वभाव। अर्थात् जिसमें किसी के उपदेश आदि बाह्य निमित्त की अपेक्षा न हो, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन करते हैं।

प्रश्न– अधिगमज सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर– अधिगम का अर्थ है– उपदेश आदि बाह्य निमित्त। अर्थात् जो सम्यग्दर्शन गुरु आदि के उपदेश सुनने, शास्त्र–स्वाध्याय करने अथवा बाह्य वस्तु आदि के निमित्त से प्राप्त होता है, उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

निसर्ग और अधिगम ये दोनों भेद बाह्य निमित्त की अपेक्षा से समझने चाहिये। दोनों ही प्रकार के सम्यग्दर्शन में अन्तरंग निमित्त– सात प्रकृतियों का क्षयोपशम आदि होना समान रूप से पाया जाता है। निसर्ग और अधिगम ये दो भेद भी सम्यक्त्व प्राप्ति के उस भव की अपेक्षा ही समझने चाहिये। निसर्ग से प्राप्त होने वाले सम्यग्दर्शन में भी पूर्व भवों में अधिगम उपदेशादि का ग्रहण तो मानना ही चाहिये, क्योंकि देशना आदि लब्धि की प्राप्ति के बिना सम्यग्दर्शन सम्भव नहीं है। चाहे वह पिछले भवों में ही क्यों न प्राप्त की हो, पर प्राप्त होना आवश्यक है।

प्रश्न– व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं?

उत्तर– अरिहन्त–सिद्ध मेरे देव हैं, सुसाधु मेरे गुरु हैं। तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा बतलाया गया अहिंसा, संयम और तप से युक्त तत्त्व ही सच्चा धर्म है। यह आस्था–श्रद्धा होना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। जैसा कि कहा है–

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥

वास्तविक तथ्य रूप भावों से, सद्भाव के निरुपण में तथा जैसा उनका स्वरूप है वैसा ही भाव पूर्वक तत्त्वों का श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन है। जैसा कि कहा है–

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसेणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥ उत्तरा. 28/15

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय, इन सात प्रकृतियों के क्षय–उपशम अथवा क्षयोपशम होने से जो आत्मा में श्रद्धा गुण

विकसित होता है, उसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं, अथवा आत्मा की आत्मा से अनुभूति होना, स्व और पर का भेद विज्ञान होना, भोगों में जीवन बुद्धि नहीं होना भी निश्चय सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं।

प्रश्न– सम्यग्दर्शन के अन्य प्रमुख भेद कौन–कौनसे हैं?

उत्तर– औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, वेदक व सास्वादन की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन पाँच प्रकार का होता है।

औपशमिक– जिसमें दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों (मिथ्यात्व, मिश्र व सम्यक्त्व मोहनीय) का उपशम होना अनिवार्य हो, अर्थात् प्रदेश व विपाक दोनों ही प्रकार का उदय न हो तथा अनन्तानुबन्धी चौक का उपशम, क्षयोपशम (प्रदेश उदय हो, किन्तु विपाक उदय न हो) अथवा विसंयोजना (थोड़े समय के लिये क्षय, अस्थायी क्षय) हो, उसे औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। इसकी स्थिति जघन्य, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है। स्थिति पूरी होने पर जीव या तो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है या फिर मिश्र, सास्वादन अथवा मिथ्यात्व में चला जाता है।

क्षायोपशमिक– जिसमें सम्यक्त्व मोहनीय का विपाक उदय नियम से रहे तथा अन्य प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम, उपशम अथवा विसंयोजना हो, उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसमें चौथे से सातवाँ गुणस्थान पाया जाता है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट 66 सागरोपम झाझेरी होती है।

क्षायिक– जिसमें सातों प्रकृतियों का हमेशा के लिये पूर्णतः क्षय हो, ऐसा आत्मिक श्रद्धान क्षायिक सम्यग्दर्शन है। इसकी स्थिति सादि अनन्त है, क्योंकि यह सम्यग्दर्शन एक बार प्राप्त होने के बाद वापस जाता ही नहीं है। यह चौथे से चौदहवें गुणस्थान तथा सिद्ध अवस्था में भी पाया जाता है। यदि अगले भव का आयुबन्ध नहीं हुआ हो और यह सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाय तो जीव उसी भव में मोक्ष में जाता है। यदि आयुबन्ध पहले हो गया हो तो तीन अथवा चार भव करके जीव अवश्य ही मोक्ष में चला जाता है।

वेदक– जब कोई जीव क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में हो, और क्षायिक प्राप्ति की ओर अग्रसर हो, उस समय क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में अन्तिम समय का सम्यक्त्व मोहनीय का जो वेदन होता है, उसे वेदक सम्यग्दर्शन (क्षायिक वेदक) कहते हैं। इसके अगले ही समय में जीव क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अन्तिम समय की स्थिति अथवा क्षायिक सम्यक्त्व के एक समय पहले की स्थिति वेदक सम्यग्दर्शन है। इसकी स्थिति जघन्य–उत्कृष्ट एक समय की (पन्नवणा सूत्र पद 18वाँ कायस्थिति के थोकड़े के आधार से) तथा गुणस्थान चौथे से सातवाँ तक होता है।

सास्वादन– जब कोई जीव औपशमिक सम्यक्त्व से गिर जाता है तब उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाता है, उस समय यदि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय न हुआ हो तो उत्कृष्ट 6 आवलिका काल के लिये जीव सास्वादन सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। जैसे ही मिथ्यात्व का उदय होता है तो जीव वहाँ से मिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाता है। यह औपशमिक सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के बीच की गिरती हुई अवस्था है। औपशमिक सम्यक्त्व से गिरने वालों में ही यह सम्यक्त्व पायी जाती है। इसका गुणस्थान एकमात्र दूसरा सास्वादन गुणस्थान है तथा स्थिति जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छः आवलिका मात्र है।

कारक– जिसमें स्वयं भी दृढ़ श्रद्धावान होकर सम्यक् आचरण करे तथा अन्य को भी प्रेरणा करे, उसे कारक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

रोचक– जिसमें स्वयं श्रद्धान तो करे, किन्तु उसके अनुकूल सम्यक् आचरण न कर सके, उसे रोचक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

दीपक– दीपक के समान जो दूसरों में तत्त्व श्रद्धा उत्पन्न करे, किन्तु स्वयं कोरा ही रह जाय, वह दीपक सम्यग्दर्शनहै।

तत्त्वों के नाम :

जीवाजीवास्रव–बंध–संवर–निर्जरा–मोक्षास्तत्त्वम् ।4।

अर्थ– जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये तत्त्व होते हैं।

यहाँ पर सात तत्त्वों का कथन किया गया है। पुण्य और पाप इन दोनों को स्वतन्त्र तत्त्व न मानकर आस्रव और बन्ध में समाहित कर लिया गया है। जबकि आगमों में– ठाणांग सूत्र के नवमें ठाणे में तथा उत्तराध्ययन सूत्र के 28वें अध्ययन में तत्त्व 9 बतलाये हैं। जैसा कि कहा है–

जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।

संवरो निज्जरा मोक्खो, संते ए तहिया नव ॥ *28/14*

नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता तंजहा - जीवा अजीवा

पुण्णं पावं आसवो संवरो निज्जरा बंधो मोक्खो। ठाणांग-9/665.

प्रश्न– तत्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर– सारभूत पदार्थ को तत्त्व कहते हैं। अथवा पदार्थ के भाव को तत्त्व कहते हैं। अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिये मुमुक्षु को जिन तथ्यों का ज्ञान होना आवश्यक है, उसे तत्त्व कहतेहैं।

प्रश्न– तत्त्वों का क्रम किस प्रकार समझना चाहिये?

उत्तर– सर्वप्रथम जीव तत्त्व का कथन किया है जिसका तात्पर्य है कि मोक्ष का अधिकारी जीव ही है। अजीव तत्त्व से यह बतलाया है कि जगत् में एक ऐसा भी तत्त्व है जो जड़ होने से मोक्षमार्ग के उपदेश का अधिकारी नहीं है। अथवा जीव का विरोधी अजीव तत्त्व है। जीव–अजीव के संयोग होने पर ही शुभाशुभ कर्मों का आस्रव होता है। आस्रव होने पर ही कर्मों का बन्ध होता है, अर्थात् आस्रव पूर्वक ही कर्मों का बन्ध होता है। आस्रव को रोकने का उपाय संवर तत्त्व के रूप में बतलाया है। संवर तत्त्व होने पर ही मोक्षमार्ग में सहायक तत्त्व निर्जरा का होना संभव है अथवा संवर पूर्वक ही निर्जरा होती है, इसलिये संवर के पश्चात् निर्जरा तत्त्व बतलाया है। कर्मों की आत्यन्तिक निर्जरा का सुपरिणाम मोक्ष है। मुमुक्षु साधक का चरम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति के बाद फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, अतः अन्तिम तत्त्व के रूप में मोक्ष तत्त्व का कथन किया गया है।

प्रश्न– तत्त्वों का संक्षिप्त अर्थ लिखिए।

उत्तर– **जीव तत्त्व–** जिसमें चेतना अथवा उपयोग लक्षण पाया जाता हो।

अजीव तत्त्व– जिसमें चेतना न हो, जड़ता हो, जो रूपी अथवा अरूपी दोनों प्रकार का हो। पुद्गल रूपी अजीव है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, ये अरूपी अजीव हैं।

आस्रव– शुभाशुभ कर्मों के आने के रास्ते अथवा द्वार।

बन्ध– आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मों के साथ नये कर्मों का बन्ध जाना, सम्बन्धित हो जाना।

संवर– कर्मों के आने के द्वारों को बन्द (समाप्त) कर देना।

निर्जरा तत्त्व– आत्मा के साथ बन्धे कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना, आंशिक क्षय होना।

मोक्ष तत्त्व– सभी कर्मों का जड़मूल से क्षय हो जाना। परिपूर्ण शुद्ध आत्म–स्वरूप प्रकट हो जाना।

निक्षेपों के नाम :

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।5।

अर्थ– नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से वस्तु तत्त्व और सम्यग्दर्शनादि का न्यास अर्थात् लोक व्यवहार होता है।

न्यास अथवा निक्षेप वस्तु तत्त्व को समझने की अनुपम शैली है। न्यास अथवा निक्षेप का शाब्दिक अर्थ– रखना, उपस्थित करना अथवा वर्णन करना है। वस्तु स्वरूप का वर्णन चार निक्षेपों से किया जाता है।

प्रश्न– नाम निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर– गुण–स्वरूप आदि के बिना किसी वस्तु या व्यक्ति को उसके नाम के आधार पर जानना। यह नाम गुण के अनुरूप भी हो सकता है तथा गुण के विपरीत भी हो सकता है अथवा कभी–कभी गुणों से सम्बन्ध बैठता ही नहीं है। जैसे विनय के गुणों से युक्त व्यक्ति का नाम विनयचन्द, विनीत रखना, निर्मल दृष्टि वाले व्यक्ति का नाम निर्मलचन्द अथवा नयनसुख होना, करोड़ों का धन होना और नाम भी करोड़ीमल होना, लक्ष्मीबाई होना, गुण एवं रूप से युक्त व्यक्ति का नाम गुण सुन्दर होना आदि गुण के अनुरूप नाम के उदाहरण हैं। जबकि धनाढ्य होते हुए भी नाम फकीरचन्द होना, विनयवान होते हुए भी नाम मानमल होना, ज्ञान नहीं होने पर भी नाम ज्ञानचन्द्र होना, रंग होते हुए नाम नारंगी होना, किसी बालक के चार भुजाएँ नहीं होने पर भी उसका नाम चतुर्भुज रख देना आदि गुण के विपरीत नाम के उदाहरण हैं।

प्रश्न– स्थापना निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर– व्यक्ति या वस्तु के फोटो, चित्र अथवा प्रतिमा आदि में व्यक्ति, देव आदि की स्थापना करके उसे अमुक व्यक्ति या देव आदि के रूप में जानना, स्थापना निक्षेप है। जैसे रामचन्द्रजी की प्रतिमा को 'राम' मानना आदि। इसके भी दो भेद हैं– (1)तदाकार अथवा सद्रूप स्थापना। (2)अतदाकार अथवा असद्रूप स्थापना।

तदाकार से तात्पर्य व्यक्ति के स्वयं के चित्र, फोटो अथवा प्रतिमा आदि से हैं। चित्र, फोटो, प्रतिमा आदि के आधार पर व्यक्ति–वस्तु की पहचान करना तदाकार स्थापना निक्षेप है। जैसे किसी व्यक्ति के फोटो आदि देखकर उसका परिचय प्राप्त करना।

अतदाकार अथवा असद्रूप से तात्पर्य ऐसा आकार जो व्यक्ति का वास्तविक आकार नहीं हो। मात्र अपनी कल्पना से ही आकार बनाकर उसमें आरोप कर देना। जैसे– गोल पत्थर को शालिग्राम मान लेना, अथवा माताजी, भैरूजी आदि का अपनी कल्पना से आकार मान लेना।

प्रश्न– द्रव्य निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर– इसमें भूत एवं भविष्यत् काल में घटित घटनाओं एवं गुणों के आधार पर वस्तु तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। पदार्थ का जो स्वरूप या तो भूतकाल में रहा हो अथवा भविष्यत्काल में होने वाला हो, परन्तु वह स्वरूप वर्तमान समय में विद्यमान नहीं हो, उसे जानना द्रव्य निक्षेप कहलाता है। जैसे– इंजीनियरिंग में अध्ययनरत छात्र को इंजीनियर कहना, एल.एल.बी. के छात्र को वकील कहना, तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किये हुए व्यक्ति को तीर्थंकर कहना, सेना में कर्नल रह चुके सेवानिवृत्त व्यक्ति को कर्नल कहना द्रव्य निक्षेप है। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी आने पर यह कहना कि आज महावीर स्वामी की जन्म जयन्ती है अथवा आज के दिन जन्म हुआ। परम अवधिज्ञानी को केवलज्ञानी कहना, सर्वार्थसिद्ध विमान के देवताओं को सिद्ध कहना, ये सब द्रव्य निक्षेप के उदाहरण हैं। अणुव्वोगोदव्वं– अर्थात् उपयोग रहित क्रिया आदि करना भी द्रव्य कहलाता है।

प्रश्न– भाव निक्षेप किसे कहते हैं?

उत्तर– जिसमें वस्तु तत्त्व का विवेचन वर्तमान में विद्यमान स्वरूप एवं गुण के आधार पर किया जाता है, उसे भाव निक्षेप कहते हैं। जैसे– अदालत में बैठकर न्याय सुनाते समय उस व्यक्ति को न्यायाधीश कहना, रोगी की चिकित्सा करते समय चिकित्सक कहना, सेवा करते समय सेवक कहना, चतुर्विध धर्म संघ का प्रवर्तन करते समय उन्हें तीर्थंकर कहना, कक्षा में छात्रों को अध्ययन कराते समय अध्यापक कहना आदि भावनिक्षेप के उदाहरण हैं।

प्रश्न– भावनिक्षेप क्यों सर्वाधिक उपयोगी है?

उत्तर– संसार के व्यवहार में भाव के आधार पर ही वस्तु की उपयोगिता होती है। ठीक इसी प्रकार आत्म–साधना में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाव निक्षेप होता है। परमेष्ठी के पाँचों पद भाव सहित (गुण सहित) ही होते हैं। उनमें नाम, स्थापना और द्रव्य का विशेष महत्त्व नहीं होता है। गुण निष्पन्न सम्बोधन से ही उन्हें सूचित किया गया है। स्थानकवासी परम्परा ऋजुसूत्र नय के आधार से परमेष्ठी के पदों को वन्दनीय पूजनीय मानती है।

भावी तीर्थंकर अथवा भूतकाल की मुनि पर्याय वाला देव भी परमेष्ठी के पाँच पदों में सम्मिलित नहीं होता है। क्योंकि वह वर्तमान में तीन चौकड़ी कषाय के उदय से रहित नहीं है। भाव निक्षेप के कारण ही नाम, स्थापना एवं द्रव्य निक्षेप भी आदरणीय बन जाते हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध आदि सभी क्रियाओं में भाव का ही विशेष महत्त्व है। दान, शील, तप और भावना मुक्ति के इन चारों द्वारों में भी भाव ही प्रधान है।

तत्त्वों को जानने के उपाय :

प्रमाणनयैरधिगमः ।6।

अर्थ– प्रमाण और नय से तत्त्वादि का विस्तारपूर्वक अधिगम अर्थात् ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रश्न– प्रमाण किसे कहते हैं?

उत्तर– सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहा है। क्योंकि सम्यग्ज्ञान से वस्तु के सत्य स्वरूप को जाना जा सकता है। जो सम्यग्ज्ञान सीधा आत्मा से होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण तथा जो मन और इन्द्रियों की सहायता से होता है वह परोक्ष प्रमाण कहलाता है।

प्रमाण के द्वारा पदार्थ के सभी गुण–धर्मों का एक साथ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। 'यह आम्रफल है' इस वाक्य में आम्रफल में पायी जाने वाली सभी विशेषताओं का समावेश हो जाता है।

जैसे– आम्रफल मीठा है, पीले रंग का है, कोमल स्पर्श है, सुगन्ध युक्त है, गोलाकार है आदि–आदि। इसी कारण उपर्युक्त वाक्य को प्रमाण स्वरूप कहा जा सकता है अथवा यह जीव है, यह मनुष्य है, इन वाक्यों में जीवगत, मनुष्यगत सभी विशेषताएँ समाहित होने से ये प्रमाण रूप हैं।

प्रश्न– नय किसे कहते हैं?

उत्तर– प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणधर्मात्मक होते हैं। उनमें अनेक विशेषताएँ पायी जाती हैं। उनमें से किसी एक गुण को प्रधानता देकर अन्य गुणों को गौण करते हुए, परन्तु अन्य गुणों का निषेध नहीं करते हुए जानना अथवा कथन करना 'नय' है। जैसे– कोई व्यक्ति खड़ा है, उसे देखकर एक छोटा बालक यह कहे कि 'ये मेरे पिता है' तो उसका कहना नय से अर्थात् स्वयं की अपेक्षा से सही है। आम पीले रंग का है, इस वाक्य में रंग की अपेक्षा आम का कथन है। गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि का कथन नहीं होते हुए भी उनका निषेध नहीं होने से यह नय अथवा सुनय कहलाता है। यदि अन्य गुणों का निषेध कर दिया जाय तो वह दुर्नय की श्रेणि में आ जाता है।

प्रश्न– प्रमाण और नय में क्या अन्तर है?

उत्तर– नय वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है, जबकि प्रमाण अनेक अंशों को। दूसरे शब्दों में नय प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण अनेक नयों का समूह है। नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है, जबकि प्रमाण अनेक दृष्टियों से वस्तु को ग्रहण करता है।

तत्त्वों के ज्ञान के लिए विचारणा द्वार :

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ।7।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।8।

अर्थ– निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प–बहुत्व से सम्यग्दर्शन आदि विषयों का अथवा जीवादि तत्त्वों का ज्ञान होता है।

प्रश्न– चौदह द्वारों की संक्षिप्त परिभाषाएँ लिखिए।

उत्तर– **1.निर्देश–** वस्तु के नाम–मात्र अर्थात् नाम का कथन करना। संक्षिप्त अर्थ–स्वरूप बतलाना 'निर्देश' कहलाता है। कोई भी जिज्ञासु जब सर्वप्रथम किसी भी नई वस्तु को देखता अथवा उसका नाम सुनता है, तब उसकी जानने की वृत्ति जाग उठती है। जिसके लिये इस प्रथम निर्देश द्वारा सन्तुष्टि हेतु प्रयास प्रारम्भ किया जाता है।

2.स्वामित्व– अर्थात् वस्तु–तत्त्व का अधिकारी। सम्यक्त्व आदि गुण का स्वामी कौन होता है? इस बात की जानकारी इस द्वार के अन्तर्गत की जाती है।

3.साधन– अर्थात् कारण। वस्तु–तत्त्व की प्राप्ति के अन्तरंग व बहिरंग कारण क्या–क्या होते हैं, इस बात को जानना 'साधन' कहलाता है।

4.अधिकरण– वस्तु तत्त्व का आधार अधिकरण कहलाता है। अर्थात् कोई भी वस्तु जिस पर टिकी रहती है, स्थिर रहती है, वह उस वस्तु का अधिकरण या आधार कहलाता है।

5.स्थिति– कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप में कितने समय तक स्थित रहेगा, अथवा किसी गुण विशेष की अपेक्षा से उसकी कितनी काल मर्यादा होगी, वह स्थिति कहलाती है।

6.विधान– वस्तु के भेद अथवा प्रकारों को विधान कहा जाता है।

7.सत्– अर्थात् सत्ता। किसी भी वस्तु तत्त्व का गुण सत्ता के रूप में विद्यमान होना, उसकी अपेक्षा कथन करना।

8.संख्या– वस्तु तत्त्व संख्या की दृष्टि से गिनती में कितना पाया जाता है। यह संख्या भूत, भविष्य व वर्तमान की दृष्टि से भी कही जा सकती है।

9.क्षेत्र– पदार्थ विशेष, लोक के कितने क्षेत्र में पाया जाता है, इस बात का कथन करना 'क्षेत्र द्वार' है।

10.स्पर्शन– कोई भी पदार्थ चारों ओर से कितनी जगह को स्पर्श करता है, उसे इस स्पर्शन द्वार से जाना जा सकता है। क्षेत्र में केवल आधार के क्षेत्र को ही गिना जाता है, जबकि स्पर्शन में चारों तरफ के क्षेत्र को गिना जाता है।

11.काल– कोई भी पदार्थ काल की अपेक्षा से कब–कब पाया जाता है, उसे जानना।

12.अन्तर– सम्यग्दर्शन आदि गुण की अपेक्षा से वस्तु तत्त्व की पुनः प्राप्ति में कम से कम व अधिक से अधिक जितना समय लगता है, उसे अन्तर कहते हैं।

13.भाव– जीवादि के परिणामों को जानना, भाव कहलाता है।

14.अल्पबहुत्व– वस्तु तत्त्व का, उसके भेदों का, संख्या की दृष्टि से न्यूनाधिकता का कथन करना 'अल्पबहुत्व' कहलाता है।

प्रश्न– चौदह द्वारों को सम्यग्दर्शन पर किस प्रकार से घटाया जा सकता है?

उत्तर– **1.निर्देश–** सम्यग्दर्शन का संक्षिप्त अर्थ–स्वरूप जानना।

2.स्वामित्व– सम्यग्दर्शन का स्वामी जीव होता है, अजीव नहीं।

3.साधन– सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का बहिरंग कारण देव–गुरु–धर्म एवं आत्म–स्वरूप का श्रद्धान होना तथा अन्तरंग कारण दर्शन–मोहनीय की तीन व चारित्र मोहनीय की चार (अनन्तानुबन्धी चतुष्क) प्रकृतियों का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम होना।

4.अधिकरण– सम्यग्दर्शन का आधार भवी शुक्ल–पक्षी जीव होता है, अन्य नहीं।

5.स्थिति– सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट स्थिति अलग–अलग होती है। उपशम सम्यक्त्व की अन्तर्मुहूर्त, क्षयोपशम की 66 सागरोपम झाझेरी तथा क्षायिक की सादि अनन्त होती है।

6.विधान– सम्यग्दर्शन के मुख्यतः औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, ये तीन मुख्य भेद होते हैं।

7.सत्– सम्यक्त्व का गुण सत्ता की अपेक्षा सभी जीवों में पाया जाता है, किन्तु यह गुण भव्य जीवों में ही प्रकट हो पाता है।

8.संख्या– सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले जीव वर्तमान में सीमित तथा भूत व भविष्य काल की अपेक्षा से अनन्त होते हैं।

9.क्षेत्र– सम्यक्त्वी जीव सम्पूर्ण लोक में नहीं, अपितु लोक के असंख्यातवें भाग में पाये जाते हैं। एक जीव भी असंख्यातवें भाग में तथा अनन्त जीव भी असंख्यातवें भाग में रहते हैं, किन्तु एक जीव की अपेक्षा क्षेत्र छोटा तथा अनन्त जीवों की अपेक्षा बड़ा होता है।

10.स्पर्शन– सम्यग्दर्शन का स्पर्शन भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही होता है, परन्तु क्षेत्र की अपेक्षा बड़ा होता है। क्योंकि क्षेत्र में आधारभूत आकाश ही आता है, जबकि स्पर्शन में निवासस्थान रूप आकाश के चारों तरफ से प्रदेशों को भी गिना जाता है।

11.काल– काल की अपेक्षा सम्यग्दर्शन अनादि अनन्त है, क्योंकि भूतकाल में ऐसा कोई समय नहीं था, न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा, जब कोई भी जीव सम्यक्त्वी न हो। चार गतियों में तथा सिद्धों में सम्यक्त्वी सदैव रहते ही हैं।

12.अन्तर– एक जीव की अपेक्षा सम्यग्दर्शन का अन्तर (विरह) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन अर्धपुद्गल परावर्तन काल होता है। परन्तु अनेक जीवों की अपेक्षा अन्तर बिल्कुल नहीं होता, क्योंकि हमेशा कोई न कोई जीव सम्यक्त्वी मिल ही जाते हैं।

13.भाव– सम्यक्त्व का गुण औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन अवस्थाओं में पाया जाता है, क्योंकि दर्शन मोहनीय के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। दर्शन मोहनीय की उदयावस्था में सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता।

14.अल्पबहुत्व– औपशमिक सम्यक्त्व वाले सबसे कम होते हैं, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व की स्थिति जघन्य उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त ही होती है। उपशम से क्षयोपशम सम्यक्त्व वाले असंख्यात गुणा और क्षयोपशम से क्षायिक सम्यक्त्व वाले अनन्त गुणा होते हैं, क्योंकि सभी सिद्ध (मुक्त जीव) क्षायिक सम्यक्त्वी ही होते हैं।

सम्यग्ज्ञान के भेद :

मतिश्रुतावधि-मनःपर्याय-केवलानि ज्ञानम् ।9।

अर्थ– सम्यग्ज्ञान के पाँच प्रकार हैं– 1.मतिज्ञान, 2.श्रुतज्ञान, 3.अवधिज्ञान, 4.मनःपर्याय ज्ञान और 5.केवलज्ञान।

यद्यपि ज्ञान आत्मा का मौलिक गुण है। प्रत्येक आत्मा में ज्ञान पाया ही जाता है, फिर भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम–क्षय आदि के निमित्त से बनने वाले पाँच प्रकारों को इस सूत्र में बतलाया गया है। ये पाँचों ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ होते हैं।

प्रश्न– मतिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर– मन और इन्द्रियों की सहायता से होने वाला रूपी अरूपी पदार्थों का सीमित बोध 'मतिज्ञान' कहलाता है।

प्रश्न– श्रुतज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर– शब्दों को सुनने–पढ़ने अथवा विचार चिन्तन करने से जो रूपी–अरूपी पदार्थों का सीमित बोध होता है, उसे 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। यानी मतिज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानना अथवा उस ज्ञान से अन्य पदार्थों को जानना, श्रुतज्ञान है।

प्रश्न– अवधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर– मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना सीधे आत्मा से रूपी पदार्थों के होने वाले मर्यादित ज्ञान को 'अवधि ज्ञान' कहते हैं।

प्रश्न– मनः पर्यय ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर– सन्नी जीवों के मनोगत भावों को अथवा मन की पर्यायों को जिसके द्वारा सीधे आत्मा से जाना जा सके, उसे मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न– केवल ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर– सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों को एक साथ सीधे आत्मा से परिपूर्ण रूप से स्पष्ट जानना, हस्तामलकवत् (हाथ में रखे हुए आँवले की तरह अथवा हथेली में रहे हुए निर्मल जल के समान) प्रत्यक्ष जानना केवल ज्ञान है। लोकालोक और तीनों कालों के सभी पदार्थों को इससे प्रत्यक्ष जाना जा सकता है।

प्रमाण :

तत् प्रमाणे ।10।
आद्ये परोक्षम् ।11।
प्रत्यक्षमन्यत् ।12।

अर्थ– वे पाँचों ज्ञान प्रमाण हैं। वह प्रमाण दो प्रकार का है– परोक्ष और प्रत्यक्ष।

प्रारम्भ के दो ज्ञान (मति व श्रुतज्ञान) परोक्ष प्रमाण रूप हैं।

शेष तीन ज्ञान (अवधि, मनःपर्यय व केवल ज्ञान) प्रत्यक्ष प्रमाण रूप हैं।

प्रश्न– परोक्ष प्रमाण किसे कहा गया है?

उत्तर– जो सीधे आत्मा से न हो, जिसके जानने में इन्द्रियाँ और मन की सहायता लेनी पड़े, अर्थात् जो मन और इन्द्रियों की सहायता से हो, उस ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहा गया है। इसी कारण मति व श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण माना गया है। (परः + अक्ष = परोक्ष)

प्रश्न– प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहा गया है?

उत्तर– जिसमें मन और इन्द्रियों की सहायता न लेनी पड़ी, अर्थात् जो सीधे आत्मा से ही जाना जाय, उस ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। अतः अवधि, मनःपर्यय व केवल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। (प्रति + अक्ष = प्रत्यक्ष)

मतिज्ञान के एकार्थक शब्द :

मतिः स्मृतिः, संज्ञा, चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।13।

अर्थ– मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध, ये सभी मतिज्ञान के अन्य नाम हैं। इनके अर्थ (अभिप्राय) में कोई अन्तर नहीं है।

प्रश्न– मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध का शाब्दिक अर्थ क्या है?

उत्तर– **मति–** मन और इन्द्रियों से वर्तमान कालवर्ती पदार्थों को जानना।

स्मृति– अनुभव में आये हुए पदार्थों का कालान्तर में पुनः स्मृति (स्मरण) पटल पर आना।

संज्ञा– वर्तमान में किसी पदार्थ को देख अथवा जानकर 'यह वही है जो पहले देखा–जाना था' इस प्रकार जोड़ रूप ज्ञान होना।

चिन्ता– किसी चिह्न को देखकर वहाँ इस चिह्न वाला भी होगा, ऐसा अनुमान करना, चिन्तन करना।

अभिनिबोध– सामने चिह्न आदि देखकर उस चिह्न वाले का निश्चय कर लेना।

प्रश्न– मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध के शाब्दिक अर्थ में भिन्नता होते हुए भी सूत्र में ऐसा क्यों कहा कि इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं हैं?

उत्तर– मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध, इनके शाब्दिक अर्थ में भिन्नता होते हुए भी इनके अर्थ में अन्तर नहीं मानने का कारण यह है कि ये सभी मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम इनका अन्तरंग कारण है।

मतिज्ञान के निमित्त :

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।14।

अर्थ– वह (मतिज्ञान) इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) के निमित्त से होता है।

प्रश्न– इन्द्रिय और अनिन्द्रिय ये दोनों अलग–अलग निमित्त क्यों बतलाये हैं?

उत्तर– इन्द्रियाँ बाह्य कारण हैं जबकि मन अन्तरंग कारण है। मन अन्तरंग निमित्त होने से इसे अनिन्द्रिय कहा गया है। दृश्य–अदृश्य की अपेक्षा भी दो निमित्त बतलाये हैं। क्योंकि इन्द्रियाँ तो दिखाई देती हैं, किन्तु मन दिखाई नहीं दे पाता है।

मतिज्ञान के भेद :

अवग्रहेहावायधारणाः ।15।

अर्थ– अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, ये मतिज्ञान के प्रमुख भेद हैं।

प्रश्न– अवग्रह किसे कहते हैं?

उत्तर– नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है। जैसे गाढ़ अंधकार में कुछ स्पर्श हो जाने पर यह ज्ञान होना कि यह कुछ है, किन्तु यह मालुम नहीं होना कि किस चीज का स्पर्श हुआ है, इसलिये अव्यक्त ज्ञान 'अवग्रह' कहलाता है।

प्रश्न– ईहा किसे कहते हैं?

उत्तर– अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिये जो विचारणा होती है, उसे ईहा कहते हैं। जैसे– यह रस्सी का स्पर्श है या साँप का, यह संशय होने पर ऐसी विचारणा होना कि यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिये, क्योंकि साँप होता तो उसका स्पर्श मुलायम होता, वह फुफकारे बिना नहीं रहता, यही विचारणा या उहापोह 'ईहा' कहलाती है।

प्रश्न– अवाय किसे कहते हैं?

उत्तर– ईहा द्वारा ग्रहण किये गये विषय का एकाग्रतापूर्वक निश्चय होना अवाय है। जैसे कुछ समय तक सोचने–विचारने के बाद यह निश्चय हो जाना कि यह साँप का स्पर्श नहीं, रस्सी का ही है, उसे अवाय कहते हैं।

प्रश्न– धारणा किसे कहते हैं?

उत्तर– अवग्रह, ईहा, अवाय द्वारा प्राप्त ज्ञान स्मृति में संजोकर रख लेना, विस्मृत न होने देना 'धारणा' कहलाती है। ये चारों भेद क्रिया अथवा मतिज्ञान की प्राप्ति की अपेक्षा से हैं।

अवग्रह आदि के भेद :

बहु-बहुविध-क्षिप्रानिश्रितासंदिग्धध्रुवाणां सेतराणाम् ।16।

अर्थ– बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव, इन छह प्रकार के पदार्थों का तथा प्रतिपक्ष (विरोधी) अल्प, एकविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव, इन छहों को मिलाकर 12 प्रकार के पदार्थों का (अवग्रह, ईहा आदि रूप ग्रहण) ज्ञान होता है।

इन बारह भेदों में बुद्धि की तरतमता को सूचित किया गया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से ये भेद काफी महत्त्वपूर्ण हैं, जो प्राणि की बौद्धिकता के थर्मामीटर का काम कर सकते हैं।

प्रश्न– बहु–बहुविध आदि 12 प्रकारों का अर्थ लिखिए।

उत्तर– **बहु–** अर्थात् अनेक। शंख, बाँसुरी आदि अनेक प्रकार के शब्दों को ग्रहण करने, जानने वाला।

अल्प– इसे एक भी कहा जा सकता है। अर्थात् शंख, बाँसुरी आदि अनेक शब्दों में से किसी एक शब्द को जानना।

बहुविध– अनेक को अनेक प्रकार से जानना। जैसे– अनेक शब्दों के माधुर्य आदि को ग्रहण कर लेना।

अल्पविध– थोड़े या एक प्रकार के शब्द की कठोरता, कर्कशता, मधुरता आदि को ग्रहण कर पाना।

क्षिप्र– क्षयोपशम की निर्मलता से शब्द आदि का शीघ्र ज्ञान कर लेना।

अक्षिप्र– शब्द आदि को विलम्ब अथवा देरी से ग्रहण करना।

अनिश्रित– वस्तु को बिना चिह्न, हेतु, उपमा, लिंग आदि के जानने की क्षमता होना।

निश्रित– किसी पदार्थ को उसके चिह्न आदि से जानना।

असंदिग्ध– पदार्थ का सन्देह रहित ज्ञान होना।

संदिग्ध– वस्तु को जानने में संशय रह जाना। असंदिग्ध को निश्चित् तथा संदिग्ध को अनिश्चित् भी कहा जा सकता है।

ध्रुव– इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध तथा मनोयोग रूप सामग्री समान होने पर होने वाला अवश्यंभावी ज्ञान ध्रुव कहलाता है।

अध्रुव– उक्त कारणों के होने पर भी कभी ज्ञान हो, कभी नहीं हो, किसी को हो, किसी को न हो, उसे अध्रुवग्राही कहते हैं।

बहु–अल्प, बहुविध और अल्पविध, ये चार भेद विषय की विविधता पर आधारित है, जबकि शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर।

प्रश्न– मतिज्ञान के कुल कितने भेद होते हैं?

उत्तर– मतिज्ञान के प्रमुख भेद चार–अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा है। अवग्रह के व्यंजन और अर्थ की अपेक्षा से दो भेद होते हैं। अवग्रह आदि भेद पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता से होते हैं। व्यंजनावग्रह चार इन्द्रियों से ही होता है, (आँख व मन को छोड़कर) अतः अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा इन चारों को पाँच इन्द्रिय और मन इन छः से गुणा करने पर 4X6=24 भेद तथा व्यंजनावग्रह के 4 भेद, इस प्रकार कुल 24+4=28 भेद होते हैं। इन 28 भेदों को बहु–बहुविध आदि बारह भेदों से गुणा करने पर

28X12=336 भेद होते हैं। इनमें यदि चार बुद्धि मिला दी जाये तो मतिज्ञान के कुल 336+4=340 भेद हो जाते हैं।

अवग्रह आदि के विषय :

अर्थस्य ।17।

व्यंजनस्यावग्रहः ।18।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।19।

अर्थ– (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों) अर्थ– अर्थात् वस्तु के प्रकट रूप को ग्रहण करते हैं। व्यंजन अर्थात् अप्रकटरूप पदार्थों का केवल अवग्रह ही होता है।

नेत्र और मन से व्यंजन रूप अवग्रह नहीं होता है।

वस्तु अथवा पदार्थ दो प्रकार के होते हैं– 1.व्यक्त और 2. अव्यक्त। इन्हें प्रकट अथवा अप्रकट भी कह सकते हैं। यहाँ अर्थ शब्द वस्तु के व्यक्त रूप के लिये प्रयोग हुआ है और व्यंजन अव्यक्त रूप के लिये। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, ये चारों वस्तु के प्रकट रूप को ग्रहण करतेहैं।

प्रश्न– चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होता?

उत्तर– क्योंकि चक्षु और मन ये दोनों अप्राप्यकारी हैं। पदार्थ को अपने में ग्रहण किये बिना, स्पर्श किये बिना ही ग्रहण कर लेते हैं। जबकि शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी अर्थात् पदार्थ को ग्रहण करके जानती हैं। अप्राप्यकारी होने से नेत्र और मन, इन दोनों से व्यंजनावग्रह नहीं होता है।

प्रश्न– चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं, इसे उदाहरण सहित समझाइए।

उत्तर– चक्षु अपने साथ स्पर्श किये हुए अर्थात् आँख में लगे काजल को नहीं देख सकती, जबकि दूर की वस्तु को देख लेती है। इसी प्रकार मन भी पदार्थ को बिना देखे, बिना छुए दूर बैठे–बैठे ही जान लेता है, चिन्तन कर लेता है। जबकि कान शब्दों को ग्रहण करके, नासिका गन्ध ग्रहण करके, जीभ–रस ग्रहण करके तथा स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श करके ही पदार्थ को जान पाती है।

श्रुतज्ञान के लक्षण और भेद :

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।20।

अर्थ– श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। अर्थात् पहले मतिज्ञान होता है, उसके बाद श्रुतज्ञान होता है। वह श्रुतज्ञान दो, अनेक तथा बारह भेद वाला होता है।

श्रुतज्ञान में शब्द विशिष्ट भूमिका निभाता है, अतः किसी भी शब्द को सुनकर उससे जो अर्थ की उपलब्धि होती है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

प्रश्न– मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान की क्या विशेषता है?

उत्तर– 1. मतिज्ञान की सीमा वर्तमानकाल तक ही सीमित है, जबकि श्रुतज्ञान द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान, इन तीनों कालों की बातें जानी जा सकती है।

2. मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान का विस्तार अधिक है।

3. मतिज्ञान की अभिव्यक्ति शब्दों से नहीं हो सकती, जबकि श्रुत की अभिव्यक्ति शब्दों से होती हैं।

4. मतिज्ञान स्व के लिये उपकारी है, जबकि श्रुतज्ञान स्व–पर दोनों के लिये उपकारी है।

5. श्रुतज्ञान में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की प्रमुखता होती है।

6. श्रुतज्ञान में पूर्वापर (आगे–पीछे का) सम्बन्ध बना रहता है, जबकि मति ज्ञान में नहीं।

7. मतिज्ञान कारण है तथा श्रुतज्ञान कार्य है।

प्रश्न– श्रुतज्ञान के दो, अनेक और बारह भेद कौन–कौनसे हैं?

उत्तर– श्रुतज्ञान के अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य, ये दो भेद हैं। जिनका अंगशास्त्रों में समावेश हैं, जो गणधरकृत हैं, उन्हें अंगप्रविष्ट कहते हैं तथा अंगों के अलावा जो उपांगादि शास्त्र हैं जिनकी रचना बाद में आचार्यों ने की है, वे अंगबाह्य कहलाते हैं। अंगबाह्यश्रुत कालिक–उत्कालिक के भेद से अनेक प्रकार के हैं। अंगप्रविष्टश्रुत आचारांग, सूत्रकृतांग आदि के रूप में बारह प्रकार का है, जिसे द्वादशांगी के नाम से जाना जाता है। दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का विच्छेद हो जाने से वर्तमान में ग्यारह अंग उपलब्ध हैं।

अवधिज्ञान के प्रकार और उनके स्वामी :

द्विविधोऽवधिः ।21।

तत्र भव प्रत्ययो नारकदेवानाम् ।22।

यथोक्त निमित्त षड्विकल्पः शेषाणाम् ।23।

अर्थ– अवधिज्ञान दो प्रकार का है– भव प्रत्यय और लब्धि प्रत्यय। भव के निमित्त से होने वाला अवधि ज्ञान भव प्रत्यय कहलाता है। जबकि जप, तप, साधना आदि के निमित्त से होने वाला अवधिज्ञान लब्धि प्रत्यय कहलाता है। लब्धि प्रत्यय का दूसरा नाम क्षयोपशम निमित्तक भी है। दोनों ही प्रकार के अवधिज्ञान में अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अनिवार्य है।

भव प्रत्यय अवधिज्ञान नारक और देवों को होता है।

यथोक्त निमित्त–क्षयोपशमजन्य अवधिज्ञान छह प्रकार का है, जो तिर्यंच और मनुष्यों को होता है।

प्रश्न– जब सभी अवधिज्ञानी देहधारी है, तब ऐसा क्यों कि किसी को तो बिना प्रयत्न के जन्म से वह प्राप्त हो जाता है और किसी को उसके लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है?

उत्तर– कार्य की विचित्रता अनुभव सिद्ध है। सब जानते हैं कि पक्षियों को जन्म लेते ही आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और मनुष्य विमान आदि के सहारे के बिना उड़ नहीं सकता। हम भी देखते हैं कि कितने ही लोगों में काव्य–शक्ति जन्मसिद्ध होती है और कितने ही लोगों को वह बिना प्रयत्न के प्राप्त होती ही नहीं।

प्रश्न– क्षायोपशमिक अवधिज्ञान के छः भेद कौनसे हैं?

उत्तर– तिर्यंचों और मनुष्यों में पाया जाने वाला क्षयोपशम निमित्तक (लब्धि अथवा गुणप्रत्यय) अवधिज्ञान–आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित की अपेक्षा छः भेद वाला होता है।

आनुगामिक– जो उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़कर दूसरी जगह चले जाने पर भी कायम रहे।

अनानुगामिक– जो उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़ देने पर कायम नहीं रहे।

वर्धमान– उत्पत्ति के समय में अल्प होने पर भी परिणामों की शुद्धि बढ़ने से क्रमशः अधिकाधिक बढ़ता जाये।

हीयमान– उत्पत्ति के समय अधिक विषयक होने पर भी परिणामों की हीनता से क्रमशः कम–कम होता जाये।

अवस्थित– जो जन्मान्तर में भी आत्मा के साथ रहे अथवा केवलज्ञान की उत्पत्ति तक अथवा जीवन भर टिका रहे।

अनवस्थित– जो जलतरंगों के समान घटता, बढ़ता रहे, उत्पन्न और नष्ट होता रहे।

मनःपर्याय ज्ञान के भेद और उनका अन्तर :

ऋजुविपुलमती मनः पर्यायः ।24।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।25।

अर्थ– ऋजुमति और विपुलमति के भेद से मनःपर्याय ज्ञान दो प्रकार का है।

ऋजुमति से विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान विशुद्धि तथा अप्रतिपातिकता (नीचे नहीं गिरना) के कारण विशेष है।

यद्यपि मनःपर्याय ज्ञानी पदार्थों को अथवा मन की पर्यायों को विशेष रूप से ही जानता है, किन्तु फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक विशुद्धि से जानता है, अधिक सूक्ष्मता से जानता है। ऋजुमति मनःपर्याय ज्ञानी प्रतिपाति हो सकता है अर्थात् आने के बाद वापस जा सकता है, किन्तु विपुलमति मनःपर्याय ज्ञानी अप्रतिपाति होता है अर्थात् केवलज्ञान पर्यन्त बना ही रहता है।

अवधि और मनःपर्याय ज्ञान में अन्तर :

विशुद्धिक्षेत्र स्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ।26।

अर्थ– विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के द्वारा अवधि और मनःपर्याय ज्ञान में अन्तर होता है।

यद्यपि अवधि और मनःपर्याय दोनों ही ज्ञान विकल (अपूर्ण) प्रत्यक्ष ज्ञान है। दोनों ही रूपी पदार्थों को जानते हैं, तथापि दोनों ज्ञानों में निम्न अन्तर भी पाया जाता है–

1. मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत विशद् रूप में, शुद्ध रूप में जानता है, इसलिये विशुद्धतर है।
2. अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक है, जबकि मनःपर्याय ज्ञान का क्षेत्र– ऊँचे लोक की अपेक्षा ज्योतिषी चन्द्र के उपरितल तक, नीचे लोक की अपेक्षा रत्नप्रभा नारकी के क्षुल्लक प्रतर तक तथा तिरछे लोक की अपेक्षा अढ़ाईद्वीप प्रमाण अथवा मानुषोत्तर पर्वत तक ही है।
3. अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति के जीव हो सकते हैं, जबकि मनःपर्याय के स्वामी केवल संयत मनुष्य (साधु) ही है।

4. अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्याय सहित समस्त रूपी द्रव्य है, जबकि मनःपर्याय का विषय तो केवल रूपी पदार्थों का अनन्तवाँ भाग अर्थात् मनोद्रव्य मात्र है।

प्रश्न– विषय कम होने पर भी मनःपर्याय ज्ञान को अवधिज्ञान से विशुद्धतर क्यों माना गया है?

उत्तर– विशुद्धि का आधार विषय का कम–अधिक होना नहीं है, वरन् सूक्ष्मताओं को जानना है। एक व्यक्ति अनेक शास्त्रों को जानता है, जबकि दूसरा व्यक्ति ऐसा है जो एक ही शास्त्र को जानता है, परन्तु उससे सम्बन्धित सभी सूक्ष्मताओं, धारणाओं को स्पष्ट रूप से जानता है तो दूसरे व्यक्ति का ज्ञान पहले व्यक्ति की अपेक्षा विशुद्धतर माना जायेगा।

पाँचों ज्ञानों के ग्राह्य विषय :

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।27।

रूपिष्ववधेः ।28।

तदनन्तभागे मनः पर्यायस्य ।29।

सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य ।30।

अर्थ– मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति सर्वपर्याय रहित अर्थात् सीमित पर्यायों से युक्त रूपी–अरूपी सब द्रव्यों में होती है।

अवधिज्ञान की प्रवृत्ति केवल रूपी द्रव्यों में उनकी सीमित पर्यायों में होती है।

मनःपर्याय ज्ञान की प्रवृत्ति उस रूपी द्रव्य के अनन्तवें भाग– मनोद्रव्य में ही होती है।

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सभी द्रव्यों में और उनकी सभी पर्यायों में होती है।

एक आत्मा में एक साथ पाये जाने वाले ज्ञान :

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ।31।

अर्थ– एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान विकल्प से, अनियत रूप से होते हैं।

किसी आत्मा में एक साथ एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान तक संभव है, पर पाँचों ज्ञान एक साथ किसी में नहीं होते।

जब एक ज्ञान होता है, तब केवलज्ञान ही होता है, क्योंकि परिपूर्ण होने से अन्य अपूर्ण ज्ञान संभव नहीं है। जब दो ज्ञान होते हैं तब मति और श्रुत, क्योंकि ये दोनों ज्ञान साथ–साथ ही रहते हैं। शेष तीनों ज्ञान एक–दूसरे को छोड़कर भी रह सकते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं तो मति, श्रुत और अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत और मनःपर्याय ज्ञान होते हैं। जब चार ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय होते हैं, क्योंकि ये चारों ज्ञान क्षायोपशमिक होने से, अपूर्ण अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं।

प्रश्न– दो, तीन, चार ज्ञान एक साथ होना किस अपेक्षा से समझना चाहिये।

उत्तर– दो, तीन, चार ज्ञान एक साथ होना शक्ति की अपेक्षा है। प्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं। एक समय में जीव का उपयोग अथवा प्रवृत्ति एक ज्ञान में ही संभव है। एक साथ दो, तीन, चार ज्ञान में उपयोग रहना संभव नहीं है।

प्रथम तीन ज्ञान की विपरीतता :

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।32।

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरून्मत्तवत् ।33।

अर्थ– मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपरीत भी होते हैं। सत् और असत् पदार्थों के भेद का ज्ञान नहीं होने से, स्वेच्छा से चाहे जैसा जानने के कारण, मदमत्त की तरह (उन्मत्तवत्) ये ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं।

मति, श्रुत और अवधिज्ञान विपरीत भी हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि ये मिथ्यादृष्टि को मिथ्याज्ञान या अज्ञान रूप होते हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि को ज्ञान रूप होते हैं। अज्ञान रूप होने का कारण सूत्र में– सही गलत का, सत–असत् का ज्ञान न होना तथा शराबी की तरह बेभान होना, बतलाया गया है। जीवादि तत्त्वों को अपनी मनोकल्पना से जैसा चाहे, वैसा मान लेना यही विपरीतता है, अज्ञान है।

प्रश्न– ज्ञान अज्ञान का निर्णायक किसे माना गया है?

उत्तर– आध्यात्मिक दृष्टि से ज्ञान अज्ञान का निर्णायक दर्शन (दृष्टि) को माना गया है। सम्यग्दर्शन के साथ जो जानकारी है, वह ज्ञान है तथा मिथ्यादर्शन के साथ जो जानकारी है, वह अज्ञान है।

प्रश्न– मति, श्रुत और अवधि को ही विपरीत क्यों मानते हैं? मनःपर्याय व केवलज्ञान को क्यों नहीं?

उत्तर– क्योंकि मति, श्रुत, अवधि ये तीनों ज्ञान मिथ्यात्वी को भी हो सकते हैं, इसलिये विपरीत भी माने हैं। किन्तु मनःपर्याय व केवल ज्ञान सम्यक्त्वी संयती (साधु) को ही होते हैं, मिथ्यात्वी को नहीं, इस कारण से इन दोनों ज्ञानों को विपरीत नहीं माना गया है।

नयों के नाम एवं प्रकार :

नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जूसूत्र शब्दा नयाः ।34।

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ।35।

अर्थ– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द, ये पाँच नय हैं। आद्य (प्रथम)– नैगम नय के दो और शब्द नय के तीन भेद होते हैं।

प्रश्न– नैगम नय किसे कहते हैं?

उत्तर– जिस प्रकार नगर में जाने के अनेक मार्ग होते हैं, उसी प्रकार वस्तु तत्त्व को समझने की अनेक विधियों वाली शैली को "नैगम नय" कह सकते हैं। यह नय पदार्थ को सामान्य–विशेष एवं उभयात्मक मानता है। एक अंश उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण कर लेता है।

जो विचार लौकिक रूढ़ि अथवा लौकिक संस्कार के अनुसरण से पैदा होता है, उसे भी नैगम नय कहते हैं।

प्रश्न– संग्रह नय किसे कहते हैं?

उत्तर– जो विचार भिन्न–भिन्न प्रकार की वस्तुओं को तथा अनेक व्यक्तियों को किसी भी सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित करता है, वह संग्रह नय कहलाता है। जैसे– यह व्यापारी है।

प्रश्न– व्यवहार नय किसे कहते हैं?

उत्तर– जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित वस्तुओं का व्यावहारिक प्रयोजन के अनुसार वर्गीकरण करता है, उसे व्यवहार नय कहते हैं। जैसे– यह कपड़े का व्यापारी है।

प्रश्न– ऋजुसूत्र नय किसे कहते हैं?

उत्तर– जो विचार भूतकाल और भविष्यत्काल का ध्यान न करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है, उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। जैसे– मोहन अभी सूती कपड़ों का व्यापारी है।

प्रश्न– शब्द नय किसे कहते हैं?

उत्तर– जो विचार शब्द प्रधान होकर अनेक शाब्दिक धर्मों की ओर झुककर तदनुसार अर्थ भेद की कल्पना करता है, वह शब्दनय कहलाता है। काल, लिंग, वचन के अनुसार अर्थभेद होना शब्द नय की कोटि में आता है।

प्रश्न– नैगम नय के दो भेद कौनसे हैं?

उत्तर– नैगम नय के दो भेद– देश परिक्षेपी और सर्व परिक्षेपी हैं। घट–पट जैसे सामान्यबोधक नाम से जब एकाध घट–पट जैसी अर्थ–वस्तु ही विचार में ग्रहण की जाती है, तब वह विचार देश परिक्षेपी नैगम नय कहलाता है।

जब उस नाम से विवक्षित होने वाले अर्थ की सम्पूर्ण जाति विचार में ग्रहण की जाती है, तब वह विचार सर्वपरिक्षेपी नैगम नय कहलाता है।

प्रश्न– शब्द नय के तीन भेद कौन–कौनसे हैं?

उत्तर– शब्द नय के तीन भेद– साम्प्रत, समभिरूढ तथा एवंभूत नय हैं। साम्प्रतनय शब्द नय का ही रूप है।

जो विचार शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ भेद की कल्पना करता है, वह समभिरूढनय है। जैसे– राजा, नृप, भूपति आदि पर्यायवाची होने पर भी राजचिह्नों से शोभित को राजा, मनुष्यों का रक्षण करने से नृप तथा पृथ्वी का पालन–संवर्धन करने से भूपति कहना।

जो विचार शब्द से फलित होने वाले अर्थ के लागू होने पर ही वस्तु को उस रूप में मानता है, अन्यथा नहीं, उस विचार को एवंभूत नय कहते हैं। जैसे– किसी को राजा तब ही कहना जबकि वह राजमुकुट धारण किये हुए हो, नृप तब ही कहना जबकि वह उस समय प्रजा के रक्षण का कार्य कर रहा हो, इसी प्रकार अदालत में न्याय सुनाते समय ही न्यायाधीश कहना, सेवा करते समय ही सेवक कहना, अध्ययन कराते समय ही अध्यापक कहना, अन्य समय में नहीं, ये सभी एवंभूत नय के उदाहरण समझने चाहिए।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीय अध्याय

प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का स्वरूप समझाया गया है। इस दूसरे अध्याय में जीव तत्त्व, जीव के भाव, भेद–प्रभेद, इन्द्रियाँ, मरण के समय गति, जीव के शरीर, जन्म ग्रहण करने की योनियाँ, वेद (लिंग) आदि का वर्णन किया गया है।

जीव के भाव (परिणाम) :

औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च

जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च ।1।

अर्थ– औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक (मिश्र) औदयिक और पारिणामिक– ये पाँचों भाव जीव के स्वतत्त्व (स्वरूप) हैं।

भाव का अर्थ है– आत्मा की अवस्था या अन्तःकरण की परिणति।

प्रश्न– औपशमिक भाव किसे कहते हैं?

उत्तर– कर्मों के उपशम (प्रदेश व विपाक दोनों उदय नहीं हो) होने से जीव के परिणामों (भावों) में जो विशुद्धि होती है, उसे औपशमिक भाव कहते हैं। जैसे फिटकरी आदि पदार्थ डालने से पानी की मलीनता दब जाती है, नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ दिखाई देने लगता है। उपशम भाव चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। आठ कर्मों में मात्र मोहनीय कर्म का ही उपशम होता है।

प्रश्न– क्षायिक भाव किसे कहते हैं?

उत्तर– कर्म के सर्वथा क्षय होने से आत्मा में जो भाव (विशुद्धि) प्रकट होते हैं, उसे क्षायिक भाव कहते हैं। क्षायिक भाव में कर्म मल हमेशा के लिये दूर हो जाता है। यह भाव चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक तथा सिद्धावस्था में भी पाया जाता है।

प्रश्न– क्षायोपशमिक भाव किसे कहते हैं?

उत्तर– क्षायोपशमिक भाव क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है। क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है। वर्तमान काल के सर्वघाति स्पर्धकों का उदय में आकर क्षय होना तथा आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सदवस्था रूप उपशम होना तथा देशघाति स्पर्धकों का उदय होना ये तीनों मिलकर क्षयोपशम कहलाता है। चारों घाति कर्मों का ही क्षयोपशम होता है। यह भाव पहले गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

मोहनीय कर्म में जब किसी प्रकृति का प्रदेशोदय ही रहता है, विपाकोदय नहीं रहता है, तब भी उसे क्षयोपशम के नाम से जाना जाता है। जबकि शेष तीन घाति कर्मों में विपाकोदय में मन्दता रहना क्षयोपशम कहलाता है।

प्रश्न– औदयिक भाव किसे कहते हैं?

उत्तर– कर्मों के उदय के कारण आत्मा में जो भाव (परिणाम) उत्पन्न होते हैं, उसे औदयिक भाव कहते हैं। अर्थात् कर्म के विपाक अनुभव से आत्मा में जो कलुषता आदि का भाव उत्पन्न होता है, वह औदयिक भाव है। यह भाव पहले से चौदहवें गुणस्थान तक के सभी संसारी जीवों में पाया जाता है।

प्रश्न– पारिणामिक भाव किसे कहते हैं?

उत्तर– जीव के जिन भावों में कर्म की बिल्कुल भी अपेक्षा नहीं होती, जीव की जो स्वतः स्वाभाविक परिणति होती है, उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। यह भाव संसारी और सिद्ध, सभी जीवों में पाया जाता है।

भावों के भेदों की संख्या :

द्विनवाष्टादशैकविंशति त्रिभेदा यथाक्रमम् ।2।

अर्थ– उक्त पाँच भावों के अनुक्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।

औपशमिक भाव के 2 भेद, क्षायिक भाव के 9 भेद, क्षायोपशमिक भाव के 18 भेद, औदयिक भाव के 21 भेद तथा पारिणामिक भाव के 3 भेद होते हैं।

औपशमिक भाव के भेद :

सम्यक्त्व चारित्रे ।3।

अर्थ– औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र, ये औपशमिक भाव के दो भेद हैं। (उपशम केवल मोहनीय कर्म का ही संभव है, अन्य कर्मों का नहीं)

प्रश्न– उपशम केवल मोहनीय कर्म का ही क्यों होता है?

उत्तर– क्योंकि एकमात्र मोहनीय कर्म ही विकारात्मक एवं वेगात्मक है। विकार और वेगों को पतला किया जा सकता है, दबाया जा सकता है, शान्त किया जा सकता है। अतः मोहनीय कर्म का ही उपशम संभव है।

क्षायिक भाव के भेद :

ज्ञानदर्शनदान-लाभ-भोगोपभोगवीर्याणि च ।4।

अर्थ– ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये सात भाव तथा 'च' शब्द से संकेतित पूर्व सूत्र में कहे गये सम्यक्त्व और चारित्र, ये नौ क्षायिक भाव के भेद हैं।

क्षायिक भाव के लिये जैसा कि कहा जा चुका है ये कर्म के क्षय से ही प्रकट होते हैं। अतः इन नौ भेदों के पूर्व क्षायिक शब्द जोड़ना चाहिये। जैसे क्षायिक (अनन्त) ज्ञान, क्षायिक (अनन्त) दर्शन आदि।

प्रश्न– कौनसा भाव किस कर्म के क्षय से प्रकट होता है?

उत्तर– ज्ञानावरणीय के क्षय से क्षायिक अर्थात् अनन्त ज्ञान, दर्शनावरणीय के क्षय से अनन्त दर्शन, अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य तथा मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र प्रकट होते हैं।

क्षायोपशमिक भाव के भेद :

ज्ञानाऽज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंच भेदाः

यथाक्रमं सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयमाश्च ।5।

अर्थ– चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, दानादि पाँच लब्धियाँ, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम (श्रावकपना) ये 18 भेद क्षायोपशमिक भाव के होते हैं।

कर्मों के क्षयोपशम से होने वाले मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय ज्ञान, मति, श्रुत, अवधि (विभंग) अज्ञान, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य आदि से सम्बन्धित भाव क्षयोपशम भाव में गिने जाते हैं।

औदयिक भाव के भेद :

गति कषाय लिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयताऽसिद्धत्व

लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ।6।

अर्थ– गति, कषाय, लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व, लेश्या के क्रमशः चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक और छः भेद होते हैं।

प्रश्न– औदयिक भाव के इक्कीस भेद कौन–कौनसे हैं?

उत्तर– 1–4. गति के चार भेद– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति। 5–8.कषाय के चार भेद– क्रोध, मान, माया और लोभ। 9–11.तीन लिंग (वेद)– स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद। 12.मिथ्यादर्शन, 13.अज्ञान, 14.असंयम, 15.असिद्धत्व, 16–21.छः लेश्या– कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या, ये औदयिक भाव के कुल इक्कीस भेद होते हैं।

पारिणामिक भाव के भेद :

जीव भव्याभव्यत्वादीनि च ।7।

अर्थ– जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व, ये तीन पारिणामिक भाव के प्रमुख भेद हैं तथा 'च' शब्द से अन्य भी पारिणामिक भाव हैं। ('च' शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, परिणामित्व आदि भाव लिये जा सकते हैं। किन्तु ये भाव अजीव में भी पाये जाने के कारण जीव के प्रमुख भावों में इनको नहीं गिना गया है)।

प्रश्न– जीवत्व से क्या आशय है?

उत्तर– जीवत्व का आशय है– जीवित रहना, जिस परिणाम के द्वारा जीव तीनों कालों में सदा जीवित रहता है। सिद्धावस्था में ज्ञानादि भाव परिणाम तथा संसारावस्था में आयु आदि दस प्राण जीवत्व रूप है।

प्रश्न– भव्यत्व का क्या अर्थ है?

उत्तर– भव्यत्व का अर्थ है– मोक्ष प्राप्ति की योग्यता, इस परिणाम वाला जीव ही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न– अभव्यत्व का क्या अर्थ है?

उत्तर– अभव्यत्व भव्यत्व का विरोधी है। जैसे कोरडू मूंग कभी नहीं सींझता, उसी प्रकार अभवी जीव कितना भी प्रयास करले किन्तु वह कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता। चतुर्गति रूप संसार में ही जन्म–मरण करता रहता है। मोक्ष प्राप्ति की अयोग्यता अर्थात् जो भवों का अन्त न होने दे, ऐसा परिणाम अभव्यत्व है।

जीव का लक्षण :

उपयोगो लक्षणम् ।8।

अर्थ– जीव का लक्षण उपयोग है।

प्रश्न– लक्षण किसे कहते हैं?

उत्तर– जिसके द्वारा लक्ष्य को पहचाना जा सके अर्थात् जिसके द्वारा किसी भी वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग करके पहचान सकें, उसे लक्षण कहते हैं।

आत्मभूत और अनात्मभूत की अपेक्षा लक्षण दो प्रकार का है। जो वस्तु के अन्दर ही हो वह आत्मभूत तथा जो वस्तु के बाहर रहकर उसके साथ चले, वह अनात्मभूत लक्षण है।

प्रश्न– जीव का लक्षण उपयोग क्यों बतलाया है?

उत्तर– उपयोग गुण प्रत्येक जीव में, प्रत्येक अवस्था में पाया ही जाता है। उपयोग गुण मात्र जीव में ही पाया जाता है, अजीव में नहीं, इन कारणों से उपयोग (ज्ञान–दर्शन की प्रवृत्ति) को जीव का लक्षण कहा गया है। यह लक्षण आत्मभूत लक्षण कहलाता है।

उपयोग के भेद :

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।9।

अर्थ– वह (उपयोग) दो प्रकार का है और इन दोनों प्रकारों के क्रमशः आठ व चार भेद होते हैं।

उपयोग के मूल भेद दो हैं– 1.साकार उपयोग (ज्ञानोपयोग) और 2.अनाकार उपयोग (दर्शनोपयोग)।

साकार (ज्ञान) उपयोग के आठ भेद– 5 ज्ञान और तीन अज्ञान होते हैं तथा अनाकार (दर्शन) उपयोग के चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन, ये चार भेद होते हैं।

प्रश्न– साकार उपयोग को ज्ञानोपयोग का एकार्थवाची क्यों माना गया है?

उत्तर– ज्ञान पदार्थ के विशेष अंश को ग्रहण करता है, आकार आदि को भी प्रत्यक्ष करता है, ज्ञान में संकल्प–विकल्प, उल्लेख, विवेचन आदि होता है, इन कारणों से साकारोपयोग को ज्ञानोपयोग का एकार्थवाची शब्द माना गयाहै।

प्रश्न– अनाकार उपयोग को दर्शनोपयोग के नाम से क्यों जाना जाता है?

उत्तर– अनाकार उपयोग वस्तु के आकार आदि को ग्रहण नहीं करता, वस्तु के सामान्य रूप को ही ग्रहण करता है। यही विशेषता दर्शनोपयोग की होने के कारण अनाकार उपयोग को दर्शनोपयोग के नाम से भी जाना जाता है।

जीवों के प्रकार :

संसारिणो मुक्ताश्च ।10।

अर्थ– (वे जीव) संसारी और मुक्त– ये दो प्रकार के होते हैं। जो कर्म बन्धनों में पड़े हुए, उनके वशीभूत हो जन्म मरण करते हैं, चार गति रूप संसार में परिभ्रमण करते हैं, वे संसारी जीव कहलाते हैं।

जो कर्मों से रहित, जन्म–मरण के बन्धनों से मुक्त होकर अविचल, अविनाशी, शाश्वत सुखों में लीन हैं, वे मुक्त (सिद्ध) जीव कहलाते हैं।

संसारी जीवों के प्रकार :

समनस्काऽमनस्काः ।11।

अर्थ– (संसारी जीव) मन सहित और मन रहित– दो प्रकार के होते हैं।

जिन जीवों में विचार करने, चिन्तन करने, उहापोह करने आदि की सामर्थ्य हों, वे जीव मन सहित अर्थात् सन्नी कहलाते हैं तथा जिनमें ऐसी सामर्थ्य न हों, वे मन रहित अर्थात् असन्नी कहलाते हैं। एकेन्द्रिय से चौरेन्द्रिय तक के सभी जीव तो असन्नी अर्थात् बिना मन वाले ही हैं, किन्तु पंचेन्द्रिय में सन्नी और असन्नी अर्थात् मन सहित और मन रहित दोनों प्रकार के होते हैं।

प्रश्न– क्या मन रहित जीवों के कोई भाव या अध्यवसाय नहीं होता?

उत्तर– मन रहित जीवों के भी संज्ञा, कषाय आदि के भाव होते हैं, किन्तु मन वाले जीवों की तरह हेय–उपादेय का चिन्तन रूप परिणाम या भाव नहीं हो पाता है।

प्रश्न– यहाँ मन सहित और मन रहित जीवों के भेद किस अपेक्षा से समझने चाहिये?

उत्तर– मन सहित और मन रहित का भेद द्रव्य मन की अपेक्षा से है। तत्त्वार्थ सूत्रकार व कर्मग्रंथकार भाव मन सभी संसारी जीवों में मानते हैं, द्रव्य मन मात्र सन्नी पंचेन्द्रिय जीवों में ही मानते हैं। किन्तु आगमकारों की मान्यता इससे भिन्न है। आगमकारों के मतानुसार ज्ञानावरणीय कर्म के विषेश क्षयोपशम से भाव मन प्राप्त होता है। ऐसा जीव बाटे बहते अवस्था में भी संज्ञी के नाम से ही जाना जाता है और वह पर्याप्तियों का प्रारम्भ करते हुए मन पर्याप्ति को भी बान्धना प्रारम्भ करता है। जिसकी पूर्ति होने पर वह जीव द्रव्य मन का अधिकारी होता है। इस द्रव्य मन का हेतु नामकर्म का उदय है। पन्नवणा सूत्र के 15वें इन्द्रिय पद से भी यही फलित होता है कि जिसके द्रव्य मन होता है, उसी के भाव मन होता है। वैसे भी बिना द्रव्य मन के भाव मन कार्यकारी नहीं बन पाता है।

अन्य अपेक्षा से संसारी जीवों के भेद :

संसारिणस्त्रसस्थावराः ।12।

अर्थ– संसारी जीव दो प्रकार के हैं– त्रस और स्थावर।

प्रश्न– त्रस जीव किसे कहते हैं?

उत्तर– जिन जीवों के त्रस नाम कर्म का उदय हो, अथवा जो सुख पाने, दुःखों से बचने आदि की विशेष प्रवृत्ति करते हों, गमनागमन करते हों, उन्हें त्रस जीव कहते हैं। बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव त्रस कहलाते हैं।

प्रश्न– स्थावर किसे कहते हैं?

उत्तर– जिन जीवों के स्थावर नाम कर्म का उदय हो, जो एक स्थान पर स्थित रहते हों, किसी भी चेष्टा, सुख–दुःख–विरोध आदि को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाते हों, ऐसे जीव स्थावर कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं।

त्रस और स्थावर जीवों के भेद :

पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ।13।

तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ।14।

अर्थ– पृथ्वीकाय, अप्काय (जलकाय) और वनस्पतिकाय, ये तीनों स्थावर हैं।

तैजस्काय, वायुकाय और बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये त्रस हैं।

इस सूत्र में पृथ्वी, पानी और वनस्पतिकाय इन तीनों को ही स्थावर माना गया है। तेऊ (अग्नि) और वायुकाय को त्रस में लिया गया है। बेइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक तो त्रसकाय ही है।

प्रश्न– तेऊ और वायुकाय को त्रस क्यों कहा गया है?

उत्तर– तेऊ और वायुकाय के जीवों में गतिशीलता होती है, इस कारण इन्हें गति त्रस कहा गया है। यद्यपि इनके भी स्थावर नाम कर्म का ही उदय होता है तथा ये भी एकेन्द्रिय जीव ही हैं। लब्धि की अपेक्षा एकेन्द्रिय ही है। किन्तु गति होने के कारण इन्हें त्रस में लिया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र के छत्तीसवें अध्ययन में भी इन्हें त्रस में लिया गया है।

प्रश्न– पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के आश्रित रहने वाले जीव कौनसे होते हैं?

उत्तर– पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के आश्रित रहने वाले जीव त्रसकायिक होते हैं।

इन्द्रियों की संख्या :

पंचेन्द्रियाणि ।15।

द्विविधानि ।16।

अर्थ– इन्द्रियाँ पाँच हैं। प्रत्येक इन्द्रिय दो–दो प्रकार की है। प्रस्तुत सूत्र में इन्द्रियों की संख्या बतलाई गयी है। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय की अपेक्षा दो प्रकार की है।

प्रश्न– द्रव्येन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर– पुद्गलमय जड़ इन्द्रिय को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रिय का निर्माण जाति से सम्बन्धित अंगोपांग व निर्माण नाम कर्म के उदय से होता है। इसमें आन्तरिक रूप से मति ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम सहकारी होता है।

प्रश्न– भावेन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर– आत्मिक परिणामरूप इन्द्रिय को भावेन्द्रिय कहते हैं। यह मति ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से प्राप्त होती है।

द्रव्येन्द्रिय के भेद :

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।17।

अर्थ– निवृत्ति और उपकरण के भेद से द्रव्येन्द्रिय दो प्रकार की है।

प्रश्न– निवृत्ति इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर– शरीर पर दिखने वाली इन्द्रियों की पुद्गलस्कन्धों की विशिष्ट रचना के रूप में जो आकृतियाँ हैं, उन्हें निवृत्ति इन्द्रिय कहते हैं। यह आन्तरिक और बाह्य की अपेक्षा दो प्रकार की है।

आन्तरिक निवृत्ति– श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय इन तीनों की क्रमशः कदम्ब का फूल, मसूर की दाल, तिल का फूल के आकार की अंगुल के असंख्यातवें भाग की आभ्यन्तर निवृत्ति होती है।

रसनेन्द्रिय की खुरपा के आकार की पृथक्त्व अंगुल की होती है। स्पर्शनेन्द्रिय निवृत्ति के बाह्य आभ्यन्तर भेद नहीं होते हैं। क्योंकि स्पर्शनेन्द्रिय निवृत्ति सब प्राणियों के एक समान नहीं होती है।

बाह्य निवृत्ति– बाहर में जो इन्द्रियों के आकार दिखाई देते हैं वे बाह्य निवृत्ति हैं। जैसे– आँख में पलक, बरौनी, काली पुतली तथा इसके चारों ओर जो सफेदी होती है, ये सब बाह्य निवृत्ति हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों में भी समझ लेना चाहिये।

प्रश्न– उपकरण इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर– जो इन्द्रिय निवृत्ति रूप रचना को हानि नहीं पहुँचने देती है, बाहरी पदार्थों के ज्ञान में सहायक बनकर निवृत्ति की उपकारक होती है, उसे उपकरण इन्द्रिय कहते हैं। अथवा निवृत्ति इन्द्रिय की बाहरी व भीतरी पौद्गलिक शक्ति को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। जिसके बिना निवृत्ति इन्द्रिय ज्ञान पैदा करने में समर्थ नहीं बन पाती है।

निवृत्ति और उपकरण ये दोनों द्रव्येन्द्रियाँ अंगोपांग व निर्माण नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं।

भावेन्द्रिय के भेद :

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।18।

अर्थ– भावेन्द्रिय के दो भेद हैं– लब्धि और उपयोग।

प्रश्न– लब्धि इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर– मतिज्ञानावरणीय कर्म आदि का क्षयोपशम जो एक प्रकार का आत्मिक परिणाम है, वह लब्धि इन्द्रिय कहलाता है।

प्रश्न– उपयोग इन्द्रिय किसे कहते हैं?

उत्तर– लब्धि, निवृत्ति तथा उपकरण इन तीनों के मिलने से जो रूपादि विषयों का सामान्य विशेष बोध होता है, उसे उपयोग इन्द्रिय कहते हैं। उपयोग इन्द्रिय मतिज्ञान रूप तथा चक्षु–अचक्षु दर्शन रूप है।

उपयोगः स्पर्शादिषु ।19।

अर्थ– उपयोग (जानने–देखने की क्रिया) स्पर्श आदि विषयों में होता है।

उपयोग अर्थात् जानने की क्रिया स्पर्श आदि में प्रवृत्त होती है। यह प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है– 1.जानना, 2.वेदन अथवा अनुभव करना। अनुभव सुख–दुःख आदि का होता है और जानना पुस्तक आदि द्रव्यों का। मतिज्ञान रूप उपयोग स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर्यायों को जान सकता है। रूपी–अरूपी पदार्थों के सीमित गुण धर्मों–पर्यायों को ही जान पाता है, सम्पूर्ण को नहीं।

पाँच इन्द्रियों के नाम और उनके विषय :

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि ।20।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तेषाम् अर्थाः ।21।

अर्थ– स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

स्पर्श (छूना), रस (स्वाद), गन्ध, रूप और शब्द ये क्रम से उपर्युक्त पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं।

अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय 8 स्पर्श को, रसनेन्द्रिय 5 रस को, घ्राणेन्द्रिय 2 गन्ध को, चक्षुरिन्द्रिय 5 रूप (वर्ण) को तथा श्रोत्रेन्द्रिय 3 शब्द को ग्रहण करती है, इसी कारण ये इन इन्द्रियों के ग्राह्य विषय कहलाते हैं।

पाँचों इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों को ही ग्रहण करती हैं। कोई भी इन्द्रिय दूसरे विषयों को ग्रहण नहीं करती। जैसे कान देख नहीं सकते, आँखें सुन नहीं सकती।

मन का विषय :

श्रुतमनिन्द्रियस्य ।22।

अर्थ– श्रुत (भावश्रुत) अनिन्द्रिय (मन) का विषय है।

प्रश्न– मन को अनिन्द्रिय क्यों कहा गया है?

उत्तर– मन ज्ञान प्राप्ति का बाह्य साधन न होकर आन्तरिक साधन है, अतः उसे अन्तःकरण भी कहते हैं। मन का विषय मूर्त्त–अमूर्त्त सभी पदार्थों को अनेक रूप में ग्रहण करना है। मन का कार्य विचार करना है। जिसमें सभी इन्द्रियों के ग्रहण किये और न ग्रहण किये सभी विषय आ जाते हैं। यह विचार ही श्रुत है। अतः आन्तरिक इन्द्रिय होने, इन्द्रियों का नियामक होने, मूर्त्त–अमूर्त्त पदार्थों को ग्रहण करने तथा विषयों में प्रवृत्त होने के लिये इन्द्रियों का सहारा लेने के कारण मन को अनिन्द्रिय कहा गया है।

प्रश्न– श्रुत को मन का विषय क्यों बतलाया है?

उत्तर– शब्दों को सुनकर–पढ़कर चिन्तन–मनन का कार्य मन द्वारा होता है। जैसे 'धर्म' शब्द कानों में पड़ा, सुनते ही 'धर्म' के जितने भी अर्थ और रूप हैं वे एकदम ध्यान में आ गये। इस मनन क्रिया की अपेक्षा से श्रुत को मन का विषय बतलाया है।

इन्द्रियों का ज्ञान तो सीमित है, उसमें अवरोध भी आ सकते हैं, किन्तु मन की गति निराबाध है, असीमित है। व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति सामने न होते हुए भी मन से चिन्तना–विचारणा होती रहती है, अतः मन का विषय श्रुत कहा है।

प्रश्न– मन शरीर में कहाँ रहता है?

उत्तर– विशेषावश्यक भाष्य गाथा 215 से 244, वृहत्कल्प भाष्य गाथा 79 तथा अभिधान राजेन्द्र कोष भाग–6, पृष्ठ–75, गाथा 215 आदि में मन को भाषा के समान बताया गया है। जैसे बोलने का इच्छुक भाषा वर्गणा को ग्रहण कर भाषा रूप में परिणत करके बोलता है, उसी प्रकार मनन करने का इच्छुक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव मनोवर्गणा को ग्रहण कर द्रव्य मन का निर्माण करता है। श्वेताम्बर परम्परा सम्पूर्ण शरीर में मन निर्मित होने की बात कहती है।

यद्यपि कल्याणमन्दिर स्तोत्र के श्लोक संख्या 8, 10, 14 से हृदय में मन होना ध्वनित होता है, तथापि व्याख्या साहित्य के उल्लेखों को प्रमुखता देते हुए तत्त्वार्थ सूत्र के हिन्दी अर्थ में जैसा पण्डित सुखलालजी संघवी ने लिखा है, उसी को प्रामाणिक मानना चाहिए। दिगम्बर परम्परा मन को हृदय व्यापी मानती है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा मन को सम्पूर्ण शरीर व्यापी मानती है।

इन्द्रियों के स्वामी :

वाय्वन्तानामेकम् ।23।

कृमिपिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।24।

अर्थ– वायुकाय तक के जीवों के एक इन्द्रिय होती है। कृमि, पिपीलिका (चींटी), भ्रमर और मनुष्य आदि के क्रमशः एक–एक इन्द्रिय अधिक होती है, अर्थात् कृमि (बेइन्द्रिय) के दो इन्द्रियाँ, पिपीलिका (तेइन्द्रिय) के तीन, भ्रमर (चौरेन्द्रिय) के चार तथा मनुष्य (पंचेन्द्रिय) के पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।

पृथ्वी, पानी, वनस्पति, तेजस् (अग्नि) तथा वायुकाय के जीवों में एक–स्पर्शनेन्द्रिय ही पायी जाती है।

मन सहित जीवों का लक्षण :

संज्ञिनः समनस्काः ।25।

अर्थ– संज्ञी जीव मन सहित होते हैं।

प्रश्न– संज्ञी किसे कहते हैं?

उत्तर– जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श करने की योग्यता हो, हेय–उपादेय का चिन्तन–मनन करने की सामर्थ्य हो, उसे संज्ञी कहते हैं। जो पंचेन्द्रिय हो, पर्याप्तक हो, जिसमें द्रव्य मन हो उसे भी संज्ञी कहते हैं।

अन्तराल (बाटा बहता) गति सम्बन्धी विचारणा :

विग्रहगतौ कर्मयोगः ।26।

अनुश्रेणि गतिः ।27।

अविग्रहा जीवस्य ।28।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।29।

एकसमयोऽविग्रहः ।30।

एकं द्वौ वाऽनाहारकः ।31।

अर्थ– विग्रहगति में कार्मण काय योग ही होता है।
गति, श्रेणि (सरल रेखा) के अनुसार होती है।
जीव (मोक्ष जाने वाला) की गति विग्रहरहित ही होती है।
संसारी आत्मा की गति अविग्रह (मोड़ रहित) और सविग्रह (मोड़ सहित) दोनों प्रकार की होती है।
विग्रह (मोड़) चार से पहले अर्थात् तीन तक हो सकते हैं।
अविग्रह गति एक समय की होती है।
जीव एक या दो समय तक अनाहारक रह सकता है।

इन सूत्रों में यह बतलाया गया है कि जब आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर (भव) को धारण करती है तो बीच की अवस्था (अन्तराल गति) में जीव की कैसी गति होती है, कौनसा योग होता है, अनाहारक कब व कितने समय जीव रह सकता है आदि–आदि। अन्तराल गति दो प्रकार की है– ऋजुगति और वक्रगति।

प्रश्न– ऋजुगति किसे कहते हैं?

उत्तर– बिना मोड़ वाली अथवा बिना विग्रह वाली– अविग्रह गति को ऋजुगति कहते हैं। इसमें एक समय मात्र लगता है। इस अवस्था में जीव अनाहारक नहीं बनता, आहारक ही रहता है। क्योंकि दूसरे समय में जीव उत्पन्न होकर आहार ग्रहण कर लेता है तथा पहले समय में पूर्व भव में किया हुआ आहार ऋजुगति में साथ रहता है। यह गति सभी मोक्ष जाने वाले जीवों में तो पायी ही जाती है साथ ही अन्य जीवों में भी पायी जा सकती है।

प्रश्न– वक्रगति किसे कहते हैं?

उत्तर– मोड़वाली अथवा विग्रह वाली गति को वक्रगति कहते हैं। इसमें तीन मोड़ तक हो सकते हैं तथा जीव दो समय तक अनाहारक रह सकता है। भगवती सूत्र 7.1.259 के अनुसार अन्तराल गति में जीव तीन समय तक अनाहारक रह सकता है। सभी संसारी जीवों में वक्रगति पायी जा सकती है।

प्रश्न– वक्रगति (विग्रहगति) में कार्मण काय योग क्यों होता है?

उत्तर– ऋजुगति से दूसरे स्थान पर जाते समय जीव को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है। उस वेग से जीव सीधे नये स्थान पर पहुँच जाता है।

जबकि वक्रगति में पूर्व शरीर जन्य वेग प्रथम मोड़ तक ही रहता है, वहाँ से जीव को घूमना पड़ता है, घूमने का स्थान आते ही सूक्ष्म शरीर–कार्मण शरीर से जीव को प्रयत्न करना पड़ता है। यह सूक्ष्म–कार्मण शरीर जन्य प्रयत्न कार्मण काय योग कहलाता है। इसी प्रयत्न से जीव दूसरे, तीसरे मोड़ को पारकर उत्पत्ति स्थान पर जाकर उत्पन्न होता है। उत्पत्ति स्थान पर जीव को ले जाने में कार्मण काय योग सहकारी होने से वक्रगति में उसे माना गया है।

प्रश्न– अन्तराल गति में अनाहारक का काल किस आधार पर माना जाता है?

उत्तर– अन्तराल गति में अनाहारक का काल जीव के होने वाले मोड़ पर आधारित है। जीव जितने मोड़ (घुमाव) करता है, उससे एक कम समय वह अनाहारक रहता है। यदि दो मोड़ करता है तो एक समय अनाहारक, यदि तीन मोड़ करता है तो दो समय तथा चार मोड़ करने पर तीन समय तक अन्तराल गति में जीव अनाहारक रहता है। एक मोड़ वाला तथा बिना मोड़ वाला जीव अनाहारक नहीं रहता है। जबकि मोक्ष जाने वाले नियमा अनाहारक ही होते हैं।

जन्म और योनि के भेद तथा उनके स्वामी :

सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म ।32।

सचित्त शीत संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ।33।

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ।34।

नारकदेवानामुपपातः ।35।

शेषाणां सम्मूर्छनम् ।36।

अर्थ– सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात ये जन्म के तीन प्रकार हैं।सचित्त, शीत और संवृत्त ये तीन तथा इन तीनों से विपरीत अचित्त, उष्ण और विवृत्त एवं मिश्र अर्थात् सचित्तअचित्त, शीतोष्ण और संवृत्तविवृत्त– ये जन्म की कुल नौ योनियाँ हैं।

जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भ से जन्म होता है।

नारक और देवों का उपपात–जन्म होता है।

शेष सब प्राणियों का सम्मूर्छन–जन्म होता है।

प्रश्न– सम्मूर्छन–जन्म किसे कहते हैं?

उत्तर– माता–पिता के सम्बन्ध के बिना ही उत्पत्तिस्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को पहले पहल शरीर रूप में परिणत करना सम्मूर्छन–जन्म है। अर्थात् बिना गर्भ के ही जीवों का उत्पन्न होना सम्मूर्छन–जन्म है। ये सभी जीव असंज्ञी कहलाते हैं।

प्रश्न– गर्भ–जन्म किसे कहते हैं?

उत्तर– माता–पिता के संयोग से उत्पत्ति स्थान में स्थित शुक्र और शोणित के पुद्गलों को पहले–पहल शरीर के लिये ग्रहण करना गर्भ–जन्म है। गर्भ–जन्म जरायुज, अण्डज और पोतज की अपेक्षा तीन प्रकार का है।

प्रश्न– उपपात जन्म किसे कहते हैं?

उत्तर– उत्पत्ति स्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहल शरीर रूप में परिणत करना उपपात–जन्म है। यह जन्म नारकी और देवों में होता है। नारकी नरकावासों में रही हुई वज्रमय कुंभियों में उत्पन्न होते हैं तथा देवता देव–शय्या पर उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न– योनि किसे कहते हैं?

उत्तर– जिस स्थान पर जीव उत्पन्न होता है, उसे योनि कहते हैं। उत्पत्ति स्थान नौ प्रकार का बतलाया गया है, जैसे– 1.सचित्त– जीव सहित, 2.अचित्त– जीव रहित, 3.मिश्र– कुछ भाग जीव सहित कुछ भाग जीव रहित, 4.शीत– ठण्डे स्पर्श वाली, 5.उष्ण– गर्म स्पर्श वाली, 6.शीतोष्ण– कुछ भाग ठण्डा, कुछ भाग गर्म, 7.संवृत्त– ढकी हुई, 8.विवृत्त– ढकी न हो, 9.संवृत्तविवृत्त– कुछ भाग ढका हो तथा कुछ भाग खुला हो। आगम में जो चौरासी लाख जीव–योनि बताई हैं; वे इन्हीं नौ योनियों का अन्य अपेक्षा से विस्तार समझना चाहिये।

प्रश्न– जरायुज किसे कहते हैं?

उत्तर– जो जीव जाल के समान माँस और रुधिर (खून) से भरी एक प्रकार की थैली से लिपटे हुए पैदा होते हैं, उन्हें जरायुज कहते हैं, जैसे– मनुष्य, गाय, भैंस, बकरी आदि।

प्रश्न– अण्डज किसे कहते हैं?

उत्तर– अण्डे से पैदा होने वाले जीवों को अण्डज कहते हैं। जैसे– सांप, मोर, चिड़िया, कबूतर आदि।

प्रश्न– पोतज किसे कहते हैं?

उत्तर– जो किसी प्रकार के आवरण के बिना ही उत्पन्न होते हैं। न तो जरायु से ही लिपटे होते हैं और न अण्डे से, अपितु खुले शरीर से पैदा होते हैं, उन्हें पोतज कहते हैं। ये माता के गर्भ से बाहर निकलते ही चलने–फिरने लग जाते हैं, जैसे– हाथी, खरगोश, नेवला, चूहा आदि।

प्रश्न– सम्मूर्छन जीवों का उत्पत्ति स्थान क्या है?

उत्तर– सम्मूर्छन जीवों के उत्पत्ति स्थान शरीर के मल (अशुचि) हैं। जैसे– कफ, मल, मूत्र, वीर्य, कूड़े, कचरे, गन्दगी आदि।

प्रश्न– उपपात क्षेत्र कौनसा है?

उत्तर– उपपात क्षेत्र देवों और नारकों के जन्म के लिये होता है। यह क्षेत्र नियत है। देवशय्या के ऊपर का दिव्यवस्त्र से ढका हुए भाग देवों का उपपात क्षेत्र है और वज्रमय कुंभियाँ नारकों का उपपात क्षेत्र है। इन उपपात क्षेत्रों में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को वे शरीर बनाने के लिये ग्रहण करते हैं।

शरीरों के विषय :

औदारिक वैक्रियाऽऽहारक तैजस कार्मणानि शरीराणि।37।

परं परं सूक्ष्मम्।38।

प्रदेशतोऽसंख्येय गुणं प्राक् तैजसात्।39।

अनन्तगुणे परे।40।

अप्रतिघाते।41।

अनादि सम्बन्धे च।42।

सर्वस्य।43।

अर्थ– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच प्रकार के शरीर हैं।

इन पाँचों प्रकारों में पर–पर अर्थात् आगे–आगे का शरीर पूर्व–पूर्व से सूक्ष्म है।

तैजस के पहले के तीन शरीरों में पूर्व–पूर्व की अपेक्षा उत्तर–उत्तर शरीर प्रदेशों (स्कन्धों) की अपेक्षा से असंख्यात गुणा होता है। बाद वाले दो अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर प्रदेशों से अनन्त गुणा होते हैं।

तैजस और कार्मण शरीर, ये दोनों प्रतिघात (रूकावट) रहित होते हैं।

आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध वाले हैं।

सब संसारी जीवों के होते हैं।

प्रश्न– शरीर किसे कहते हैं?

उत्तर– जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहते हैं। जो प्रतिक्षण परिवर्तन को प्राप्त हो, सड़न–गलन–विध्वंसन स्वभाव वाला हो, उसे भी शरीर कहते हैं। 1.जो शरीर जलाया जा सके, जिसका छेदन–भेदन हो, जिसमें रहकर जीव कर्मों का क्षय कर सके, वह औदारिक शरीर है। 2.जो विविध प्रकार के रूप बना सके, वह वैक्रिय शरीर है। 3.जो मात्र चौदह पूर्वधारी मुनि को ही लब्धि के रूप में प्राप्त हो, वह आहारक शरीर है। 4.जो तेजोमय होने से खाये हुए आहारादि के पचाने का हेतु

और तेजस्विता का निमित्त हो वह तैजस शरीर है। 5.कर्म वर्गणाओं का समूह जो आत्मा के साथ सम्बन्धित है, वह कार्मण शरीरहै।

औदारिक से वैक्रिय शरीर सूक्ष्म है, वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस से भी कार्मण शरीर सूक्ष्म है। औदारिक शरीर सबसे अधिक स्थूल है।

प्रश्न– स्थूल और सूक्ष्म का क्या अर्थ है?

उत्तर– स्थूल और सूक्ष्म का अर्थ है– रचना की शिथिलता और सघनता, परिमाण नहीं। औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, पर वैक्रिय भी आहारक से स्थूल है। इसी प्रकार आहारक आदि शरीर भी पूर्व–पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म और उत्तर–उत्तर की अपेक्षा स्थूल है। उदाहरणार्थ– रुई, वस्त्र, काष्ठ, स्वर्ण और पारा।

प्रश्न– प्रथम तीन शरीरों को प्रदेश की अपेक्षा असंख्यात गुणा अधिक कैसे समझने चाहिये?

उत्तर– यद्यपि पाँचों ही शरीर अनन्त प्रदेशों के पिण्ड हैं, समूह हैं किन्तु फिर भी औदारिक से वैक्रिय शरीर के प्रदेश असंख्यात गुणा अधिक तथा वैक्रिय से आहारक शरीर के प्रदेश असंख्यात गुणा अधिक होते हैं।

प्रश्न– तैजस और कार्मण इन दो शरीरों को अनन्त गुणा अधिक क्यों बतलाया गया है?

उत्तर– क्योंकि तैजस शरीर औदारिक आदि प्रथम तीनों शरीर के प्रदेशों से अनन्त गुणा अधिक है तथा कार्मण शरीर तैजस शरीर से भी अनन्त गुणा अधिक प्रदेश वाला है। इस कारण दोनों शरीरों को (तैजस, कार्मण) अनन्त गुणा अधिक कहा है।

प्रश्न– तैजस, कार्मण शरीर को अनादि सम्बन्ध वाला क्यों कहाहै?

उत्तर– औदारिक शरीर तो तिर्यंच, मनुष्यों को ही प्राप्त होता है। वैक्रिय शरीर नारकी, देवों को तथा आहारक शरीर चौदहपूर्वधारी मुनियों को ही प्राप्त होता है, किन्तु तैजस और कार्मण, ये दो शरीर ही ऐसे हैं जो सभी संसारी जीवों में सदैव पाये जाते हैं। इन्हें व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं, प्रवाह की अपेक्षा से अनादि सम्बन्ध वाले बतलाये हैं।

प्रश्न– तैजस, कार्मण शरीर को अप्रतिघाती क्यों कहा है?

उत्तर– क्योंकि ये दोनों शरीर सारे लोक में कहीं भी प्रतिघात (रूकावट) को प्राप्त नहीं होते अर्थात् वज्र जैसी कठोर वस्तु भी इन्हें प्रवेश करने से, निकलने से रोक नहीं सकती, ये अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इसलिये इन्हें अप्रतिघाती कहा है।

एक साथ कितने शरीर संभव :

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः।44।

अर्थ– एक साथ एक जीव के तैजस और कार्मण इन दो शरीरों को लेकर, चार शरीर तक विकल्प से हो सकते हैं।

एक शरीर किसी भी जीव के नहीं पाया जा सकता। जब दो शरीर होते हैं तो तैजस और कार्मण होते हैं। ये दोनों शरीर अन्तराल गति (बाटा बहती अवस्था) में ही होते हैं। जब तीन शरीर होते हैं तब तैजस, कार्मण और औदारिक (मनुष्य–तिर्यंच की अपेक्षा) अथवा तैजस कार्मण और वैक्रिय (नारकी देवता की अपेक्षा) शरीर होते हैं। जब चार शरीर होते हैं तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक शरीर होते हैं।

चार शरीर में पहला विकल्प वैक्रिय लब्धि के प्रयोग के समय कुछ मनुष्य–तिर्यंचों में पाया जाता है, जबकि दूसरा विकल्प आहारक लब्धि के प्रयोग के समय चौदह पूर्वधारी मुनि में ही पाया जाता है।

प्रश्न– पाँच शरीर एक साथ क्यों नहीं पाये जाते?

उत्तर– क्योंकि वैक्रिय और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ संभव नहीं है, अतः ये दोनों शरीर किसी जीव के एक साथ नहीं हो सकते, इसी कारण पाँच शरीर एक साथ नहीं पाये जाते। शक्ति रूप में तो पाँचों शरीर एक साथ रह सकते हैं, किन्तु प्रवृत्ति अथवा क्रिया रूप में चार से अधिक नहीं हो सकते।

कार्मण शरीर की निरूपभोगिता :

निरूपभोगमन्त्यम्।45।

अर्थ– अन्तिम अर्थात् कार्मण शरीर उपभोग (सुख–दुःखादि के अनुभव) से रहित है।

प्रश्न– उपभोग का क्या अर्थ है?

उत्तर– जीव सामान्य दशा में श्रोत्रेन्द्रिय आदि से शुभ–अशुभ शब्दादि विषय ग्रहण करके सुख–दुःख का अनुभव करता है, हाथ–पाँव आदि अवयवों से दान, हिंसा आदि शुभाशुभ कर्म का बन्ध करता है, बन्धे हुए कर्मों के फल का अनुभव करता है, धर्माचरण द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है, ये सब उपभोग कहलाते हैं।

प्रश्न– कार्मण शरीर को ही उपभोग रहित क्यों माना गया है?

उत्तर– औदारिक, वैक्रिय शरीर द्वारा सुख–दुःख आदि का वेदन तो संसारी जीवों में प्रत्यक्ष देखा ही जाता है। आहारक शरीर से भी चौदह पूर्वधारी मुनि अपना प्रयोजन पूर्ण करते ही हैं। तैजस शरीर से पचन–पाचन आदि क्रियाएँ होती हैं। श्राप–वरदान आदि भी इसी शरीर के कार्य हैं। उष्ण तेजोलेश्या और शीत तेजोलेश्या रूप लब्धि भी इसी शरीर के विशिष्ट कार्य हैं। जिसकी सहायता से कुपित होकर जलाया भी जा सकता है तथा प्रसन्न होकर शान्ति भी पहुँचायी जा सकती है। किन्तु अकेले कार्मण शरीर से कोई भी क्रियाएँ संभव नहीं हैं।

औदारिक शरीर किन जीवों के?:

गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम्।46।

अर्थ– गर्भ और सम्मूर्च्छन रूप से उत्पन्न होने वाले जीवों के पहला (औदारिक) शरीर होता है।

प्रश्न– गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म किन जीवों के होता है?

उत्तर– गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म मात्र मनुष्यों और तिर्यंचों का ही होता है। अतः इन दोनों में (तैजस, कार्मण के साथ) औदारिक शरीर होता है।

वैक्रिय शरीर की उपलब्धि :

वैक्रियमौपपातिकम्।47।

लब्धि प्रत्ययं च।48।

अर्थ– उपपात जन्म वाले जीवों के वैक्रिय शरीर होता है। वैक्रिय शरीर लब्धि (ऋद्धि–विशेष) से भी प्राप्त होता है।

प्रश्न– औपपातिक वैक्रिय शरीर किसे कहते हैं?

उत्तर– जिन जीवों का जन्म उपपात कहलाता है, उन जीवों को औपपातिक कहते हैं। नारकी और देवता औपपातिक कहलाते हैं। इन दोनों में भव के प्रारम्भ से ही वैक्रिय शरीर प्राप्त हो जाता है, जो जीवन भर रहता है। भव के कारण से उत्पन्न होने के कारण उसे भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर भी कहा जा सकता है।

प्रश्न– लब्धि प्रत्यय किसे कहते हैं?

उत्तर– जो शरीर जप, तप, साधना आदि के फलस्वरूप लब्धि विशेष के रूप में मनुष्य और तिर्यंचों को प्राप्त होता है, उसे लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर कहते हैं। यह शरीर सन्नी मनुष्य, सन्नी तिर्यंच एवं बादर वायुकाय के जीवों को प्राप्त होता है।

आहारक शरीर की विशेषताएँ :

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव।49।

अर्थ– आहारक शरीर चौदह पूर्वधारी श्रमण के ही होता है और यह शुभ, शुद्ध तथा व्याघात (बाधा) रहित होता है।

प्रश्न– शुभ, शुद्ध तथा व्याघात (बाधा) रहित का क्या अर्थ है?

उत्तर– शुभ पुद्गलों का होने के कारण शुभ कहलाता है। प्रशस्त उद्देश्य से बनाये जाने के कारण शुद्ध (निरवद्य–निर्दोष) कहलाता है तथा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण व्याघात रहित होता है। अर्थात् किसी को रोकने वाला या किसी से रूकने वाला नहीं होता है।

प्रश्न– आहारक शरीर की प्रमुख विशेषताएँ क्या–क्या हैं?

उत्तर– प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं–

1. आहारक शरीर कर्मभूमि में गर्भ रूप से उत्पन्न सम्यग्दृष्टि, चौदह पूर्वधारी, ऋद्धि प्राप्त साधु को होता है।
2. शुभ पुद्गलों से निर्मित होने से अत्यधिक मनोज्ञ एवं विशुद्ध होता है।
3. यह एक हाथ प्रमाण और समचौरस संस्थान वाला होता है।
4. यह न किसी को व्याघात पहुँचाता है और न किसी से बाधित होता है।
5. यह शरीर तीर्थंकर अथवा केवली भगवान् से शंका का समाधान प्राप्त करने, वादी के प्रश्नों का उत्तर देने, तीर्थंकर भगवान की ऋद्धि देखने तथा जीव दया के निमित्त से प्रयोग में आता है।
6. आहारक शरीर अन्तर्मुहूर्त के लिए बनाया जाता है।

वेदों (लिंगों) के धारक :

नारक सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि।50।

न देवाः ।51।

अर्थ– नारक और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक होते हैं।

देव नपुंसक नहीं होते हैं।

नारक और एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के सम्मूर्च्छन जीव एकान्त नपुंसक वेद वाले ही होते हैं। उनमें स्त्रीवेद, पुरुषवेद नहीं पाया जाता।

देवगति में भवनपति से दूसरे देवलोक तक स्त्रीवेद तथा पुरुषवेद वाले तथा उससे ऊपर के देवता एकान्त पुरुषवेद वाले ही होते हैं। देवों में कोई भी नपुंसक वेद वाले नहीं होते हैं। वेद का यह कथन द्रव्य वेद की अपेक्षा समझना चाहिये। भाव वेद तो नारक–देवों में तीनों ही प्रकार के संभव हैं।

प्रश्न– वेद किसे कहते हैं?

उत्तर– विकार भावना अथवा भोग की इच्छा को वेद कहते हैं। वेद दो प्रकार के हैं– द्रव्य वेद और भाव वेद। द्रव्य वेद पौद्गलिक आकृति रूप है, जो नाम कर्म के उदय से प्राप्त होता है। भाव वेद एक मनोविकार है, जो वेद मोहनीय कर्म के उदय से प्राप्त होता है।

प्रश्न– द्रव्य तथा भाव स्त्रीवेद किसे कहते हैं?

उत्तर– जिस चिह्न से 'स्त्री' होने की पहचान हो, उस साधन को द्रव्य स्त्रीवेद तथा पुरुष के साथ भोग भोगने की अभिलाषा होना भाव स्त्रीवेद कहलाता है। यह विकार अंगारे के समान है, जो जल्दी शान्त नहीं होता और प्रकट भी जल्दी नहीं होता।

प्रश्न– द्रव्य तथा भाव पुरुषवेद किसे कहते हैं?

उत्तर– जिस चिह्न से 'पुरुष' की पहचान होती है, वह द्रव्य पुरुषवेद तथा स्त्री के साथ भोग भोगने की इच्छा भाव पुरुषवेद कहलाता है। पुरुषवेद का विकार घास की अग्नि के समान है, जो शीघ्र ही शान्त हो जाता है और प्रकट भी शीघ्र हो जाता है।

प्रश्न– द्रव्य तथा भाव नपुंसकवेद किसे कहते हैं?

उत्तर– जिसमें कुछ चिह्न स्त्री के हो और कुछ पुरुष के हों, वह द्रव्य 'नपुंसकवेद' तथा स्त्री–पुरुष दोनों के साथ भोग भोगने की अभिलाषा को भाव नपुंसकवेद कहते हैं। यह विकार तेज तपी हुई ईंट के समान है, जो बहुत देर में शान्त होता है तथा प्रकट भी बहुत देर में होता है।

आयुष्य के प्रकार और उनके स्वामी :

औपपातिक चरमदेहोत्तम पुरुषाऽसंख्येय

वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।52।

अर्थ– औपपातिक (नारकी और देवता) चरमशरीरी, उत्तमपुरुष और असंख्यात वर्ष की आयु वाले, ये सभी अनपवर्तनीय आयु वाले ही होते हैं।

दो प्रकार की आयु वाले जीव होते हैं– अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु वाले।

प्रश्न– अपवर्तनीय आयु किसे कहते हैं?

उत्तर– जो आयु बन्धी हुई स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही भोगी जा सके, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं। यह आयु सामान्य मनुष्य और तिर्यंचों में पायी जाती है।

प्रश्न– अनपवर्तनीय आयु किसे कहते हैं?

उत्तर– जो आयु बन्धी हुई स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके, वह अनपवर्तनीय आयु कहलाती है। अर्थात् जिस आयु का भोगकाल बन्धी हुई स्थिति के समान ही हो, वह अनपवर्तनीय आयु है।

प्रश्न– अनपवर्तनीय आयु किन–किन जीवों के होती हैं?

उत्तर– अनपवर्तनीय आयु नारकी, देवता, चरमशरीरी (उसी भव में मोक्ष जाने वाले मनुष्य) उत्तम पुरुष (तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव = 63 श्लाघनीय पुरुष) और असंख्यात वर्ष की आयु वाले (अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमियों के युगलिक मनुष्य और तिर्यञ्च) ये सभी अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त सामान्य मनुष्य तथा तिर्यंच ये अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय, दोनों ही प्रकार की आयु वाले होते हैं।

अपवर्तनीय आयु में बन्धी स्थिति का नियत समय से पहले भोग करने में भी आयु कर्म पूरा भोगने में आ ही जाता है। बिना भोगा हुआ शेष नहीं रहता है। जैसे– दो कपड़े पानी में धोये, एक को अच्छी तरह निचौड़कर, फैलाकर धूप में सुखाया और दूसरे कपड़े को बिना फैलाये, बिना निचौड़े छाया में सुखाया तो दोनों के सूखने की काल मर्यादा अलग–अलग रहेगी, परन्तु सुखने पर दोनों में ही पानी शेष नहीं रहेगा। इसी प्रकार अपवर्तनीय, अनपवर्तनीय आयु को भी समझ लेना चाहिये।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

तत्त्व विभाग–

गुणस्थान स्वरूप

गुणस्थानों[1] पर उनतीस द्वार हैं। वे इस प्रकार हैं – 1.नाम 2. लक्षण 3. स्थिति 4. क्रिया 5. सत्ता 6. बंध 7.उदय 8. उदीरणा 9. निर्जरा 10. भाव 11. कारण 12.परीषह 13. आत्मा 14. जीव के भेद 15. गुणस्थान 16. योग 17. उपयोग 18. लेश्या 19. हेतु 20. मार्गणा 21. ध्यान 22. दण्डक 23. जीवयोनि 24. निमित्त 25. चारित्र 26.आकर्ष 27. समकित 28. अन्तर और 29.अल्पबहुत्व।

1. नाम द्वार

गुणस्थानों के नाम – 1. मिथ्यात्व 2. सास्वादन 3.सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) 4. अविरत सम्यग्दृष्टि 5.विरताविरत (देशविरति) 6. प्रमत्त–संयत्त 7. अप्रमत्त–संयत 8. निवृत्ति–बादर 9.अनिवृत्ति–बादर 10. सूक्ष्म सम्पराय 11. उपशान्त मोहनीय 12. क्षीण–मोहनीय 13. सयोगी केवली और 14. अयोगी केवली गुणस्थान[2]।

2. लक्षण द्वार

1. **मिथ्यात्व गुणस्थान का लक्षण–** जिनेश्वर भगवान की वाणी न्यूनाधिक या विपरीत श्रद्धे या प्ररूपे, जिन–मार्ग पर दुष्ट परिणाम रखे, हिंसा में धर्म माने या प्ररूपे, कुदेव कुगुरु और कुशास्त्र पर आस्था रखे। अथवा तत्त्व श्रद्धा के अभाव रूप जीव के ऐसे भाव को पहला – 'मिथ्यात्व गुणस्थान' कहते हैं।

   फल– कर्म रूपी डंडे से आत्मा रूपी गेंद, चार गति चौबीस दण्डक और चौरासी लाख जीव–योनियों में बारम्बार परिभ्रमण कर दु:ख भोगती रहती है।

   जितने जीव मोक्ष जाते हैं, अव्यवहार राशि[3] (सूक्ष्मनिगोद अर्थात् सूक्ष्म वनस्पति, बादर निगोद अर्थात् साधारण वनस्पति) से उतने ही जीव व्यवहार राशि[4] में आते हैं।[5] जब अर्धपुद्गल परावर्तन काल संसार परिभ्रमण शेष रहता है। तब से वह मिथ्यादृष्टि भव्य जीव शुक्ल पक्षी कहलाता है। इसको हम एक व्यावहारिक दृष्टान्त से इस प्रकार समझ सकते हैं। जैसे किसी को एक करोड़ रुपया ऋण चुकाना था, उसने उसमें से निन्यानवें लाख निन्यानवें हजार नौ सौ निन्यानवें रुपये आठ आने (99,99,999॥) तो चुका दिये, केवल आधा रुपया देना शेष रहा। उसी प्रकार इस जीव का अर्द्ध पुद्गल परावर्तन संसार परिभ्रमण शेष रहा। अर्थात् शुक्लपक्षी हो गया। यहाँ से अनादि मिथ्यादृष्टि पहली बार सीधा चतुर्थ गुणस्थान में ही जायेगा। (शुक्लपक्षी होने के बाद जघन्य अन्तर्मुहूर्त में तथा उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गल

---

1 आत्मा के ज्ञान–दर्शन चारित्र आदि गुणों की शुद्धि–अशुद्धि और उत्कर्ष–अपकर्ष अवस्था के वर्गीकरण को 'गुणस्थान' कहते हैं।

2 कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता तं जहा– .... समवाओ सं.14

3 जिन जीवों ने एक बार भी निगोद (सूक्ष्म वनस्पति व साधारण वनस्पति इन दोनों के अपर्याप्त व पर्याप्त) अवस्था छोड़कर दूसरी जगह जन्म नहीं लिया हो, वे अव्यवहार राशि के जीव हैं।

4 जिन्होंने निगोद को छोड़कर दूसरी जगह एक बार भी जन्म ग्रहण कर लिया है, वे सभी व्यवहार राशि के जीव हैं।

5 सिज्झंति जत्तिया किर, इह संववहार जीव रासिओ।
एंति अणाइ वण्णस्सई, रासीओ तेत्तिया तम्मि ॥

विशेषणवती– विशेष 15, गाथा 60.

परावर्तन काल में समकित अवश्य प्राप्त करता है) दूसरे से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में जीव शुक्लपक्षी ही होता है।

2. **सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का लक्षण–** उपशम सम्यक्त्वी के अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से व दर्शन त्रिक का उपशम कायम रहने से सम्यक्त्व की आस्वाद मात्र जो अवस्था बनती है, उसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। उपशम समकित के लाभ को जो बाधा पहुँचाता है, विराधना करता है, इसलिये इसे सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान भी कहते हैं। जैसे– किसी ने खीर का भोजन किया और बाद में वमन कर दिया, तो उसे कुछ गुड़चटा स्वाद रहता है। इसी प्रकार प्राप्त सम्यक्त्व को छोड़ कर मिथ्यात्व में प्रवेश करने के पूर्व की दशा में जो अवस्था होती है, उसे 'सास्वादन'[1] गुणस्थान कहते हैं। अथवा जैसे– घंटे से गंभीर शब्द निकल चुकने के बाद उसकी रणकार (प्रतिध्वनि) रह जाती है, उसके समान, अथवा आत्मा रूपी आम्र–वृक्ष की परिणाम रूपी डाली से, मोह रूपी वायु चलने से, समकित रूपी फल टूट गया, परन्तु मिथ्यात्व रूपी पृथ्वी पर नहीं पहुँचा। वह बीच ही में हैं, तब तक के परिणामों को 'सास्वादन गुणस्थान' कहते हैं।

3. **सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान का लक्षण–** यह गुणस्थान मिश्र मोहनीय प्रकृति के उदय से होता है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से मिश्रित[2], श्रीखंड के समान मीठे और खट्टे स्वाद जैसा।

पंच संग्रह और कर्मग्रंथ में मिलने वाला नालिकेर द्वीप के मनुष्य का दृष्टान्त इस प्रकार है– जिस द्वीप में खाने के लिये सिर्फ नारियल ही होते हैं, उसे नालिकेर द्वीप कहते हैं। वहाँ के मनुष्यों ने न अन्न को देखा है, न उसके विषय में कुछ सुना ही है, अतएव उनको अन्न में रुचि नहीं होती और न द्वेष ही होता है। इसी प्रकार जब मिश्र मोहनीय कर्म का उदय रहता है, तब जीव को जैन धर्म में प्रीति नहीं होती और अप्रीति भी नहीं होती अर्थात् श्री वीतराग ने जो धर्म कहा है वही सच्चा है, इस प्रकार एकान्त श्रद्धा रूप प्रेम नहीं होता और वह धर्म झूठा है, अविश्वसनीय है इस प्रकार अरुचि रूप द्वेष भी नहीं होता। दूसरे शब्दों में सम्यक्त्व व मिथ्यात्व में तटस्थ वृत्ति होती है।

4. **अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का लक्षण–** सात प्रकृतियों का क्षयोपशम आदि करने पर जीव की जो अवस्था होती है, उसे चौथा 'अविरत–सम्यग्दृष्टि गुणस्थान' कहते हैं। वे सात प्रकृतियाँ हैं– 1.अनन्तानुबन्धी क्रोध 2. मान 3. माया 4.लोभ 5. मिथ्यात्वमोहनीय 6.मिश्रमोहनीय 7.समकितमोहनीय। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म कुशास्त्र की आस्था रखना– 'मिथ्यात्व मोहनीय' है। जिस कर्म के उदय से सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व से मिश्रित परिणाम हो अथवा इनमें तटस्थ वृत्ति हो, उसे 'मिश्र मोहनीय' कहते हैं। जिस प्रकार कूटे हुए कोद्रव धान्य के छिलकों में मादक शक्ति पूर्ण नहीं होती, उसी प्रकार जिस कर्म के द्वारा सम्यक्त्व गुण का पूर्ण घात तो न हों, परन्तु उसमें चल[3] मल[4] अगाढ़[5] दोष उत्पन्न हों, उसे 'सम्यक्त्वमोहनीय' कहते हैं।

---

1 सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान उपशम समकित से गिरने वाले को ही आ सकता है, अन्य को नहीं। यह एक भव में दो बार से अधिक नहीं आ सकता व अनेक भवों की अपेक्षा भी पाँच बार से अधिक नहीं आता है।

2 मिश्र मोहनीय गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता। इसमें न तो नवीन आयु का बन्ध होता है और न मरण होता है। सम्यक्त्व या मिथ्यात्व को प्राप्त होने के बाद ही आयु का बन्ध या मरण होता है।

3 श्री शान्तिनाथजी शान्ति करने में, पार्श्वनाथजी परिचय देने में समर्थ हैं, इस प्रकार अनेक विषयों में चलायमान होने को 'चल दोष' कहते हैं।

4 छद्मस्थपन की तरंग से सम्यक्त्व में मलिनता आ जाने को 'मल दोष' कहते हैं।

5 यह मेरा शिष्य है, यह उनका, इत्यादि भ्रम उत्पन्न करने वाले दोष को 'अगाढ़ दोष' कहते हैं। अगाढ़ अर्थात कुछ शिथिल।

चौथे गुणस्थान में आया हुआ जीव जीवादिक नौ पदार्थों का जानकार होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का जानकार होवे, नवकारसी आदि वर्षी तप को उपादेय जाने, श्रद्धा करे, प्ररूपणा करे, परन्तु पालन नहीं कर सकता, क्योंकि अविरत है।

फल– इस गुणस्थान में सात बोलों का बन्ध नहीं हो सकता – 1. नारकी 2. तिर्यंच 3. भवनपति 4. वाणव्यन्तर 5. ज्योतिषी 6. स्त्रीवेद और 7. नपुंसकवेद। यदि पहले बन्ध हो गया हो तो भोगना ही पड़ता है। जैसे श्रेणिक महाराजा को भोगना पड़ा। इस गुणस्थान से नीचे गिरने पर उक्त सात बोलों का बंध हो सकता है।

अनन्तानुबन्धी चौक, मिथ्यात्व, मिश्र व समकित मोहनीय, इन सात प्रकृतियों के क्षयोपशम आदि से बनने वाले भंग इस प्रकार हैं–[1]

उपशम समकित–

इसमें दर्शन मोहनीय के उपशम की नियमा है।

प्रथमोपशम–

1.(अ) चार का क्षयोपशम, 3 का उपशम (त्रिपुंज होने पर) – (गुणस्थान 4 से 7 तक, स्थिति– जघन्य–उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त)

(ब) चार का क्षयोपशम 1 (मिथ्यात्व) का उपशम (त्रिपुंज नहीं होने पर) (नियमा नीचे गिरेगा) गुणस्थान–चौथा[2] स्थिति – जघन्य–उत्कृष्ट, अन्तर्मुहूर्त।

द्वितीयोपशम–

2. सातों प्रकृतियों का उपशम– (4 से 11 गुणस्थान तक, स्थिति– जघन्य–उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त)

3. चार की विसंयोजना, तीन का उपशम– (4 से 11 गुणस्थान तक, स्थिति– जघन्य–उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त)

क्षायोपशमिक समकित–

इसमें समकित मोहनीय के उदय (विपाकोदय) की नियमा है।

सामान्य–

4. छः का क्षयोपशम, एक का वेदन– (4 से 7 गुणस्थान तक, स्थिति– जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट 66 सागरोपम झाझेरी)

द्वितीयोपशम प्राप्ति की प्रक्रिया– (जो वर्तमान में क्षयोपशम समकिती हैं, किन्तु बाद में उपशम समकित प्राप्त कर उपशम श्रेणि करेंगे उनकी अपेक्षा से निम्न भंग समझना)

5. चार का उपशम, 2 का क्षयोपशम, 1 का वेदन– (गुणस्थान 4 से 7 तक, स्थिति–जघन्य उत्कृष्ट–अन्तर्मुहूर्त)

---

1 पुराने थोकड़ों की पुस्तकों में वर्णित भंगों का आधार नहीं मिलने से उपलब्ध कर्म साहित्य आदि के अनुसार बनने वाले भंग दिये गये हैं।

2 विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार।

6. 6 का उपशम, 1 का वेदन– (गुणस्थान 6, 7, स्थिति– जघन्य उत्कृष्ट–अन्तर्मुहूर्त)

7. 4 की विसंयोजना, 2 का क्षयोपशम, 1 का वेदन– (गुणस्थान 4 से 7 तक, स्थिति– जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट 66 सागरोपम झाझेरी) यदि जीव द्वितीयोपशम अथवा क्षायिक समकित प्राप्ति की प्रक्रिया आगे न करे तो इस भंग में उत्कृष्ट 66 सागरोपम झाझेरी भी स्थिति हो सकती है। यदि प्रक्रिया निरन्तर चलती रहे तो स्थिति जघन्य उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

8. 4 की विसंयोजना, 2 का उपशम, 1 का वेदन (गुणस्थान 6, 7, स्थिति– जघन्य, उत्कृष्ट–अन्तर्मुहूर्त)

क्षायिक प्राप्ति की प्रक्रिया– (जो वर्तमान में क्षयोपशम समकिती हैं, किन्तु बाद में क्षायिक समकित प्राप्त करेंगे, उस अपेक्षा से निम्न भंग समझना)

9. 4 का क्षय, 2 का क्षयोपशम, 1 का वेदन– (गुणस्थान 4 से 7 तक, स्थिति– जघन्य उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त

10. 5 का क्षय, 1 का क्षयोपशम, 1 का वेदन– (गुणस्थान 4 से 7 तक, स्थिति– जघन्य उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त)

11. 6 का क्षय, 1 का वेदन– (गुणस्थान 4 से 7 तक, स्थिति– जघन्य–उत्कृष्ट–अन्तर्मुहूर्त)[1]

क्षायिक समकित–

12. 7 का क्षय– (गुणस्थान 4 से 14 व सिद्ध, स्थिति– सादि अनन्त)

इन भंगों को निम्न चार्ट द्वारा भी सरलता से समझ सकते हैं–

1 इस भंग के अन्तिम एक समय को क्षायिक वेदक कहते हैं।

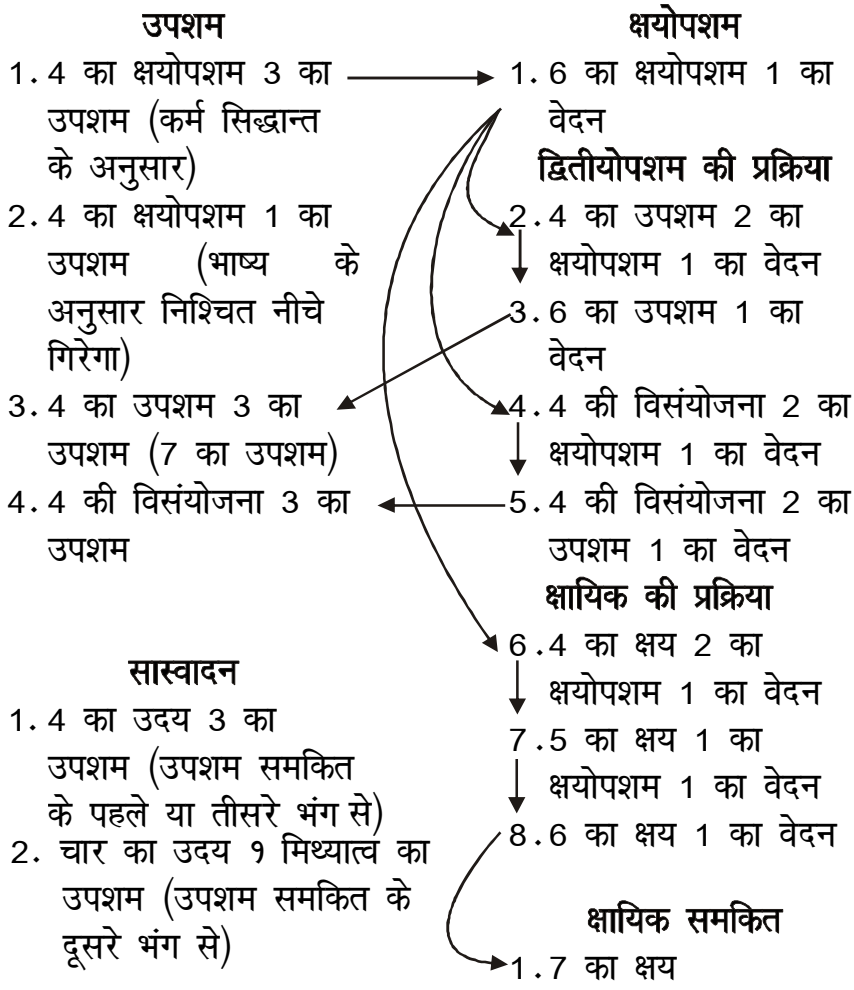

कठिन शब्दों के सामान्य अर्थ– (विशेष जानकारी के लिये छठे कर्मग्रन्थ के परिशिष्ट की व्याख्या देखनी चाहिए)

उपशम का अर्थ है– जिसमें सम्बन्धित कर्म प्रकृति का न तो विपाकोदय हो और न प्रदेशोदय हो, किन्तु कर्म प्रकृति सत्ता में विद्यमान रहे।

विपाकोदय का अर्थ है– अनुभूति में आने वाला उदय और **प्रदेशोदय** का अर्थ है– अनुभूति में नहीं आने वाला उदय।

क्षयोपशम का अर्थ है– जिसमें प्रदेशोदय तो हो, किन्तु विपाकोदय न हो। वर्तमान काल में सर्व घाति स्पर्धकों का देशघाती स्पर्धक के रूप में उदय आकर क्षय होना तथा आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सदवस्था रूप का उपशम होना और देशघाति स्पर्धकों का उदय होना, क्षयोपशम कहलाता है।

विसंयोजना का अर्थ है– जिसमें किसी भी प्रकार का उदय न हो, कर्म सत्ता में भी न हो, किन्तु कारण (मिथ्यात्व) उपस्थित होने पर जिसका पुनः बन्ध व उदय हो सके अर्थात् अस्थायी क्षय। विसंयोजना मात्र अनन्तानुबन्धी चौक की ही होती है।

प्रथमोपशम का अर्थ है– जो उपशम समकित ग्रन्थिभेद जन्य होती है तथा जिसमें जीव उपशम श्रेणि प्राप्त नहीं कर पाता है, चाहे वह पहली, दूसरी बार ही क्यों न प्राप्त हो।

द्वितीयोपशम का अर्थ है– जो उपशम समकित श्रेणि सहित प्राप्त हो, चाहे वह पहली, दूसरी, तीसरी बार ही क्यों न प्राप्त हो।

त्रिपुंज का अर्थ है– मिथ्यात्व मोहनीय के बन्ध को मिथ्यात्व (अशुद्ध) मिश्र (अर्द्ध शुद्ध) एवं समकित मोहनीय (विशुद्ध) के रूप में तीन टुकड़ों में विभाजित कर देना।

5. **विरताविरत (देशविरति) गुणस्थान का लक्षण–** पहले कही हुई सात प्रकृतियाँ और अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ एवं नो कषाय[1] के क्षयोपशमादि से जो गुणस्थान होता है, वह पाँचवाँ विरताविरत (देशविरति) गुणस्थान है। इस गुणस्थान में आया हुआ जीव, जीवादिक नौ पदार्थों का जानकार होता है। नवकारसी आदि से लेकर वर्षी तप आदि जानता है, श्रद्धान करता है, प्ररूपता है और शक्ति अनुसार प्रत्याख्यान करता है। एक प्रत्याख्यान से लेकर श्रावक के बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ तक पालन करे यावत् मारणांतिक संलेखना संथारा अनशन करे।

   फल– इस गुणस्थान का आराधक जीव, जघन्य तीसरे भव उत्कृष्ट सात–आठ अर्थात् पन्द्रह भवों में मोक्ष में जाता है। सात भव वैमानिक देवों के और आठ मनुष्य के करता है।

6. **प्रमत्तसंयत गुणस्थान का लक्षण–** दर्शन सप्तक के क्षयोपशमादि से, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ तथा नो कषाय[2] के क्षयोपशम से जो गुणस्थान हो, उसे छठा 'प्रमत्त–संयत[3] गुणस्थान' कहते हैं। इस गुणस्थान वाला नौ तत्त्व और द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव का जानकार होवे, नवकारसी आदि वर्षी तप जाने श्रद्धे प्ररूपे और पालन करे।

   फल– छठे गुणस्थान का आराधक जीव जघन्य उसी भव में और उत्कृष्ट सात–आठ भवों में मोक्ष जाता है।

7. **अप्रमत्त संयत गुणस्थान का लक्षण–** पाँच प्रमादों के छोड़ने से जो गुणस्थान हो, वह 'अप्रमत्तसंयत[4] गुणस्थान' है। पांच प्रमाद[5] – 1. मद्य 2. विषय 3. कषाय 4. निद्रा और 5. विकथा। इस गुणस्थान वाला, जीवादिक नौ तत्त्वों का तथा द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव का जानकार होवे, नवकारसी आदि तप जाने, श्रद्धा करे, प्ररूपणा करे और फरसे।

   फल– इस गुणस्थान का आराधक जघन्य उसी भव में, मध्यम तीसरे भव में और उत्कृष्ट सात–आठ भवों में मोक्ष जाता है।

8. **निवृत्ति बादर गुणस्थान का लक्षण–** जिस गुणस्थान में सम–समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) तथा बादर संज्वलन कषाय का उदय रहता है, उसे निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं।

---

1 इस गुणस्थान में हास्यादि षट्क और वेद के उदय में कमी स्पष्टतः परिलक्षित भी होती है और कम्मपयडी आदि ग्रन्थों के अनुसार इन प्रकृतियों के देशघाति (मन्द) अनुभाग से अधिक उदय सम्भव नहीं होता है। अतः इनका क्षयोपशम कहा जाता है। इनके क्षयोपशम की भिन्नता से ही विरताविरत के असंख्यात स्थान बनते हैं।

2 संज्वलन चौक एवं नो कषाय के क्षयोपशम की भिन्नता से ही संयम के असंख्यात स्थान बनते हैं।

3 इस गुणस्थान में आते ही 'साधु' संज्ञा होती है। सतरह प्रकार का संयम पालन होता है। इसे 'सर्वविरति गुणस्थान' भी कहते हैं।

4 प्रथम बार प्राप्ति के समय सातवें गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। बाद में जघन्य स्थिति एक समय भी हो सकती है। इसमें केवल संज्वलन कषाय और नो–कषाय का मन्द उदय रह जाता है। धर्म ध्यान की मुख्यता है।

5 मज्जविसयकसायनिद्दाविकहा।

शुक्ल ध्यान प्राप्ति, प्रतिसमय अनन्त गुणी विशुद्धि को लिये अपूर्व परिणाम होने से[1] स्थिति घात आदि पाँच अपूर्व कार्य होने से इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण' गुणस्थान भी कहते हैं। आठवें गुणस्थान में वर्तमान जीव चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम या क्षपण के योग्य होने से उपशमक या क्षपक कहलाता है।

9. **अनिवृत्ति बादर गुणस्थान का लक्षण–** जिस गुणस्थान में सम–समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) नहीं होती तथा बादर संज्वलन कषाय का उदय रहता है, उसे अनिवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करने वाले उपशमक तथा क्षय करने वाले क्षपक कहलाते हैं।

10. **सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान का लक्षण–** जिस गुणस्थान में मात्र संज्वलन लोभ कषाय का सूक्ष्म रूप से उदय (विपाकोदय) रहता है, उसे सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में मात्र संज्वलन लोभ कषाय का उपशमन अथवा क्षय किया जाता है, क्योंकि इस गुणस्थान में संज्वलन लोभ के सिवाय अन्य चारित्र मोहनीय कर्म की ऐसी कोई प्रकृति ही नहीं है, जिसका उपशमन या क्षय न हुआ हो। संज्वलन लोभ का उपशमन करने वाले उपशमक तथा क्षय करने वाले क्षपक कहलाते हैं।

11. **उपशान्त मोहनीय गुणस्थान का लक्षण–** जिस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों का उपशम रहता है, उसे उपशान्त मोहनीय गुणस्थान कहते हैं। यदि क्षायिक समकिती हो तो दर्शन सप्तक का क्षय व मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों का उपशम रहता है। इस गुणस्थान में उपशांत कषाय, यथाख्यात चारित्र व वीतरागदशा की प्राप्ति होती है। इस गुणस्थान को उपशम श्रेणि करने वाला ही प्राप्त करता है, जो पडिवाई होती है।

उपशम श्रेणि के आरम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है– चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव, पहले चार अनंतानुबंधी कषायों का उपशम या विसंयोजना करता है और पीछे छठे या सातवें गुणस्थान में दर्शन मोहनीय त्रिक का उपशम करके उपशम समकित प्राप्त करता है अथवा पूर्व इसी भव में चौथे, पाँचवें, छठे या सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में जीव दर्शन सप्तक का क्षय करके क्षायिक समकित प्राप्त करता है। इसके बाद वह जीव छठे तथा सातवें गुणस्थान में सैकड़ों बार आता और जाता है। फिर चारित्र मोहनीय की उपशमना के लिए तीन करण करता है।[2] सातवें गुणस्थान में यथाप्रवृत्तिकरण करके अपूर्वकरण के साथ आठवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। फिर अनिवृत्तिकरण के साथ नवमें गुणस्थान को प्राप्त करता है। दर्शन सप्तक की प्रकृतियों का क्षय या उपशम तो पूर्व में ही हो चुका है – इस गुणस्थान में संज्वलन लोभ को छोड़ 20 प्रकृतियों का उपशमन कर संज्वलन लोभ की सूक्ष्म किट्टी (कूट–कूट कर पतला करना) कर ली जाती है। [वे बीस प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं– 1–8 अप्रत्याख्यानी व प्रत्याख्यानावरणीय चौक, 9–14 हास्यादिकषट्क (हास्य,

---

1 **पाँच अपूर्व कार्य निम्नोक्त हैं– (1) स्थिति घात**– बंधे हुए ज्ञानावरणीयादि कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तना करण से छोटी करना 'स्थिति घात' है। **(2)रसघात**– बंधे हुए ज्ञानावरणीयादि कर्मों के तीव्र अशुभ रस को अपवर्तनाकरण से मंद करना 'रस घात' है। **(3) गुण श्रेणि–** जिन कर्म दलिकों का स्थिति घात किया जाता है, उनको प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त में असंख्यात गुणित क्रम से स्थापित कर देना 'गुणश्रेणि' कहलाता है। **(4) गुण संक्रमण–** पहले बांधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बंधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में असंख्यात गुणित क्रम से परिवर्तित करना 'गुण संक्रमण' कहलाता है। **(5)अपूर्व स्थिति बंध–** पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों को बांधना 'अपूर्व स्थिति बंध' कहलाता है। (कर्मग्रन्थ भाग 2, गाथा 2 का विवेचन)

2 समकितादि प्राप्ति के पूर्व होने वाले यथाप्रवृतिकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण से भिन्न है।

रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा) 15–17 तीनों वेद, 18–20 संज्वलन क्रोध, मान, माया] इस प्रक्रिया के पश्चात् जीव दसवें गुणस्थान में आता है।

पूर्व कही हुई सत्ताईस और एक संज्वलन लोभ – इन अट्ठाईस प्रकृतियों का उपशम (7 का क्षय या उपशम, शेष 21 का उपशम) करने से जीव को ग्यारहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में काल करे तो अनुत्तर विमान में जाता है[1] व उत्कृष्ट 33 सागरोपम की ही स्थिति पाता है। ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति पूरी होने से ऊपर के गुणस्थान में नहीं जाकर नीचे गिर जाता है[2] व उपशम हुए संज्वलन लोभ का उदय हो जाता है। जैसे बुझा दिये जाने पर कोयले में वर्तमान में अग्नि नहीं होते हुए भी निमित्त प्राप्त करके पुनः जल उठता है या जैसे कोठरी में कोठरी और उस कोठरी में भी फिर कोठरी होने से आगे का रास्ता बन्द हो जाता है, वहाँ से उसे वापस लौटना ही पड़ता है। इसी प्रकार ग्यारहवें गुणस्थान से वापस लौटना पड़ता है। लौटकर जीव दसवें गुणस्थान में, नौवें गुणस्थान में यावत् कोई पहले गुणस्थान में भी आ सकता है[3] फिर कोई उसी भव में दूसरी बार भी उपशम श्रेणि कर सकता है। किन्तु क्षपक श्रेणि नहीं कर सकता।

12. **क्षीण मोहनीय गुणस्थान का लक्षण–** मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों का क्षय होने से जिस गुणस्थान की प्राप्ति होती है, उसे क्षीण मोहनीय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव के मोहनीय कर्म का पूर्णतः क्षय हो जाने से क्षीण कषायी – यथाख्यात चारित्र एवं वीतराग दशा होती है तथा शेष घाती कर्मों के सद्भाव से छद्मस्थता रहती है। इस गुणस्थान को क्षपक श्रेणि करने वाला ही प्राप्त करता है। **क्षपक श्रेणि का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है :–**

चौथे, पाँचवें, छट्ठे या सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में इस भव में अथवा पूर्व भव में सबसे पहले अनन्तानुबन्धी व दर्शनमोहनीय त्रिक इन सात कर्म प्रकृतियों (दर्शन सप्तक) का क्षय करके क्षायिक समकित प्राप्त करता है। फिर चारित्र मोहनीय की क्षपणा के लिए तीन करण करता है। सातवें गुणस्थान में यथाप्रवृत्तिकरण करके अपूर्वकरण के साथ आठवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। फिर अनिवृत्तिकरण के साथ नवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। ऊपर वर्णित 20 प्रकृतियों का क्रमशः क्षय नवें गुणस्थान में कर दसवें गुणस्थान में जाता है व संज्वलन लोभ का क्षय कर ग्यारहवें गुणस्थान को छोड़कर सीधा बारहवें गुणस्थान में आता है। बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में[4] ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय इन तीन कर्मों का चरम वेदन करके तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में उनकी निर्जरा करने के फलस्वरूप सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है।

13. **सयोगी केवली गुणस्थान का लक्षण–** ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन शेष घाती कर्मों का क्षय होने से जिस गुणस्थान में केवलज्ञान–केवलदर्शन प्राप्त हो और जो योग सहित हो, उसे सयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में दस बोल पाये जाते हैं[5] 1.क्षायिक समकित 2.शुक्ल ध्यान

---

1 श्रेणि में काल करने वाला जीव अनुत्तर विमान में ही जाता है।

2 उपशम श्रेणि करने वाला जीव चढ़ते या गिरते काल तो कर सकता है, पर श्रेणि चढ़ते 11वें गुणस्थान के पहले नहीं गिरता है।

3 जिस भव में उपशम श्रेणि होती है, उस भव में क्षपक श्रेणि नहीं करता – भगवती सूत्र शतक 9 उद्देशक 31. (कर्म ग्रन्थ की मान्यता के अनुसार उस भव में क्षपक श्रेणि भी सम्भव है)

4 क्षपक श्रेणि अपडिवाई होने से क्षपक श्रेणि से जीव गिरता ही नहीं है। अन्तर्मुहूर्त्त में ही केवली हो जाता है तथा उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

5 ये दस बोल चार घाती कर्मों के क्षय होने से ही प्राप्त होते हैं। पाँच प्रकार की लब्धि – अन्तराय कर्म के क्षय से, केवलज्ञान – ज्ञानावरणीय के क्षय से, केवलदर्शन– दर्शनावरणीय के क्षय से और शेष मोहनीय के क्षय से प्राप्त होते हैं।

3.यथाख्यात चारित्र 4.केवलज्ञान 5.केवल दर्शन 6.अनंतदान लब्धि 7.अनंतलाभ लब्धि 8.अनंतभोग लब्धि 9.अनंतउपभोग लब्धि 10.अनंतवीर्य लब्धि[1]।

तेरहवें गुणस्थान में जीव मन, वचन और काया के योगों का निरोध (रोक) करके चौदहवें गुणस्थान में जाता है।

14. **अयोगी केवली गुणस्थान का लक्षण–** जिस गुणस्थान में योग प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध हो जाने से अयोग अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे अयोगी केवली गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में पाँच लघु अक्षर[2] के मध्यम स्वर से उच्चारण जितनी स्थिति में रह कर 1.वेदनीय 2.आयुष्य 3.नाम और 4.गोत्र ये चार अघाती कर्मों का क्षय करके अफुसमाण (स्पर्श न करते हुए) गति से एक समय की अविग्रह (बिना मोड़ वाली) गति से औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को छोड़ कर साकार उपयोग से सिद्ध गति को प्राप्त होता है। सिद्ध गति में जन्म नहीं, मरण नहीं, जरा नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, चाकर नहीं, ठाकर नहीं, भूख नहीं, तृषा नहीं, ज्योति में ज्योति विराजमान है[3]। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाध सुख (निराबाध), वीतरागता, अक्षय स्थिति, अमूर्तिक, अगुरु–लघु और अनन्त आत्म–सामर्थ्य सहित विराजमान होते हैं।

3. स्थिति द्वार

पहले गुणस्थान के तीन भंग हैं– 1. अनादि– अपर्यवसित[4] जिसकी आदि भी नहीं और अन्त भी नहीं, 2.अनादि सपर्यवसित[5]– जिसकी आदि नहीं, किन्तु अन्त है, 3.सादिसपर्यवसित[6]– जिसकी आदि भी है और अन्त भी है। तीसरे भंग की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन की है।

दूसरे गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय[7] उत्कृष्ट छह आवलिका की है।

तीसरे और बारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

चौथे गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागर[8] झाझेरी है।

पाँचवें और तेरहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन करोड़ पूर्व की है।

छठे, सातवें गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय की, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त[9] की है। (छठा, सातवाँ गुणस्थान झूले के समान आता जाता रहता है। इन दोनों गुणस्थानों की अलग–अलग स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त ही है, परन्तु दोनों की मिलाकर उत्कृष्ट स्थिति देशोन करोड़ पूर्व की होती है।)[1]

---

1 उपर्युक्त दस बोलों में से पहला बोल चौथे से सातवें गुणस्थान में किसी भी गुणस्थान में, दूसरा बोल आठवें गुणस्थान में, तीसरा बोल बारहवें गुणस्थान में तथा शेष सात बोल तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त होते हैं।

2 अ, इ, उ, ऋ, ऌ।

3 लोक के अग्रभाग पर समश्रेणि में (सीध में) रहे हुए सिद्ध भगवन्तों के आत्म प्रदेशों द्वारा अवगाहित क्षेत्र में स्थित हो जाते हैं।

4 यह भंग अभव्य जीव की अपेक्षा से है, क्योंकि वे अनादिकाल से मिथ्यात्वी हैं और सदैव मिथ्यात्वी ही रहेंगे।

5 यह अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव की अपेक्षा से है।

6 यह तीसरा भंग प्रतिपाति सम्यक्त्वी की अपेक्षा से हैं, जो सम्यक्त्व को प्राप्त करके फिर मिथ्यात्व में आया हो।

7 एक समय की जघन्य स्थिति दूसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष सभी गुणस्थानों में काल करने (मरण) की अपेक्षा से समझनी चाहिए। दूसरे गुणस्थान की जघन्य स्थिति नीचे गिरने (मिथ्यात्व में आने) की अपेक्षा समझनी चाहिए।

8 पंच सग्रह भाग–2 गाथा–43 में चौथें गुणस्थान की स्थिति साधिक 33 सागरोपम बताई है, यही उचित प्रतीत होती है।

9 पंचसंग्रह भाग–2 गाथा–44 में प्रमत्त, अप्रमत्त दोनों गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बतलायी है।

आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

चौदहवें गुणस्थान की स्थिति मध्यम रीति से पाँच लघु अक्षर के उच्चारण करने में जितना काल लगे उतनी है।

4. क्रिया द्वार

पच्चीस क्रियाओं के नाम– 1.काइया 2.अहिगरणिया 3. पाउसिया 4.पारियावणिया 5.पाणाइवाइया 6.आरम्भिया 7.पारिग्गहिया 8.मायावत्तिया 9.अपच्चक्खाण किरिया 10.मिच्छादंसणवत्तिया 11.दिट्ठिया 12.पुट्ठिया 13.पाडुच्चिया 14.सामंतोवणिया 15.नेसत्थिया 16.साहत्थिया 17.आणवणिया 18.वेदारणिया 19.अणाभोगवत्तिया 20.अणवकंखवत्तिया 21.पओइया 22.सामुदाणिया 23.पेज्जवत्तिया 24.दोसवत्तिया और 25.ईरियावहिया।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में ईरियावहिया के सिवाय चौबीस[2] क्रियाएँ पाई जाती हैं। चौथे में मिथ्यात्व को भी छोड़कर तेईस क्रियाएँ पाई जाती हैं। पाँचवें में अविरति को छोड़कर बाईस क्रियाएँ हैं। छठे गुणस्थान में[3] पारिग्गहिया को छोड़कर 21 क्रियाएँ पायी जाती हैं। सातवें से नवमें गुणस्थान तक काइया, अहिगरणिया, पाउसिया, पारियावणिया, पाणाइवाइया और आरम्भिया ये छह क्रियाएँ भी छोड़कर शेष 15 क्रियाएँ पाई जाती हैं। दशवें गुणस्थान में (दोसवत्तिया) द्वेषवत्तिया[4] छोड़कर शेष 14 क्रियाएँ पाई जाती हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें में एक ईरियावहिया क्रिया पाई जाती है। चौदहवें गुणस्थान में एक भी क्रिया नहीं है।

ज्ञातव्य –

क्रिया द्वार में मिथ्यात्व मोहनीय का बन्ध कराने वाले अनन्तानुबन्धी कषाय को भी उपचार से (कार्य में कारण का समावेश करना) मिथ्यात्व मोहनीय मान लिया गया। अतः हेतु और कारण से भी क्रिया द्वार में और अधिक विशदता के साथ पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व की क्रिया मानी गई है।

5. सत्ता द्वार[5]

पहले गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक आठों ही कर्मों की सत्ता है। बारहवें गुणस्थान में सात[1] कर्मों की सत्ता है और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में चार अघाती कर्मों की सत्ता रहती है।

---

1 अभिधान राजेन्द्र कोष, पंचसंग्रह।

2 भगवती सूत्र शतक 30वें (समवसरण) में विकलेन्द्रियों में सास्वादन गुणस्थान होते हुए भी क्रियावादी समवसरण नहीं माना है, दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से, मिथ्यात्वाभिमुख होने से एवं हीयमान परिणाम होने से सास्वादन समकित होने पर भी मिथ्यात्व की क्रिया लगना प्रज्ञापना सूत्र पद 17 के पहले उद्देशक के सूत्र 1139–40 में बताया है। इसी प्रकार पद 22 में भी विकलेन्द्रियों में नियम से मिथ्यात्व की क्रिया बतलाई है। अतः इन पाठों के आधार पर दूसरे गुणस्थान में सास्वादन समकित और ज्ञान होते हुए भी इन दोनों को गौण करके मिथ्यात्व की क्रिया मानना ही अधिक संगत लगता है। तीसरे गुणस्थान में मिश्र परिणाम होते हैं। अतः इसमें जो मिथ्यात्व का अंश है, उसकी अपेक्षा से मिथ्यात्व की क्रिया बतलाई है।

3 कायिकी क्रिया में अनुपरत कायिकी चौथे गुणस्थान तक और दुष्प्रयुक्त कायिकी क्रिया छठे गुणस्थान तक लगती है। इसके बाद कायिकी क्रिया नहीं लगती।

4 दशवें गुणस्थान में क्रोध और मान का लेशमात्र भी उदय नहीं होने के कारण द्वेषवत्तिया क्रिया नहीं लेना उपयुक्त है।

5 आत्मा के साथ कर्मों का लगा रहना 'सत्ता' है।

6. बन्ध द्वार[2]

तीसरे गुणस्थान को छोड़ कर पहले से सातवें गुणस्थान तक सात तथा आठ कर्मों का बन्ध होता है (जब सात कर्मों का बन्ध होता है तब आयु–कर्म नहीं बँधता) तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थान में आयु–कर्म के सिवाय सात कर्मों का बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान में मोहनीय और आयु के सिवाय छह कर्मों का बन्ध होता है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में एक वेदनीय कर्म (साता वेदनीय) का ही बन्ध होता है। चौदहवें गुणस्थान में बन्ध नहीं होता।

7. उदय द्वार[3]

पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मों का उदय होता है। ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म के सिवाय सात कर्मों का उदय होता है। तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में चार अघाती कर्मों का उदय होता है।

8. उदीरणा द्वार[4]

पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक सात–आठ–छह[5] कर्मों की उदीरणा होती है (सात की उदीरणा हो, तो आयु कर्म की नहीं होती तथा छह की उदीरणा हो तो आयु व वेदनीय दोनों को छोड़ना) सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थान में छह कर्मों की उदीरणा (आयु और वेदनीय छोड़ कर) दसवें गुणस्थान में छह या पाँच कर्मों की उदीरणा (छह की हो तो पूर्वोक्त दो छोड़ना और पाँच की हो तो मोहनीय भी छोड़ देना) ग्यारहवें गुणस्थान में पाँच कर्मों की उदीरणा, बारहवें गुणस्थान में पूर्वोक्त पाँच कर्मों की या नाम और गोत्र इन दो कर्मों की उदीरणा होती हैं। तेरहवें गुणस्थान में पूर्वोक्त दो की उदीरणा होती है।[6] चौदहवें गुणस्थान में उदीरणा नहीं होती।

9. निर्जरा द्वार[7]

---

1 क्योंकि बारहवें गुणस्थान में मोहनीय–कर्म का अभाव हो जाता है।

2 आत्मा के साथ कर्मों का क्षीर–नीर के समान एकमेक हो जाना।

3 उदय समय (काल) को प्राप्त कर्म परमाणुओं के अनुभव करने को 'उदय' कहते हैं।

4 उदयावली के बाहर स्थित कर्म परमाणुओं को कषाय सहित या कषाय रहित योग संज्ञा वाले वीर्य विशेष के द्वारा उदयावली में लाकर उनका उदयप्राप्त कर्म परमाणुओं के साथ अनुभव करना 'उदीरणा' कहलाता है।

5 भगवती सूत्र शतक 11 उद्देशक 1, शतक 25, उद्देशक 6 एवं शतक 35 से 40 तक से स्पष्ट होता है कि प्रमादी जीवों में 6 कर्मों की उदीरणा भी होती है। पुलाक पुलाकपने में काल नहीं करता, लेकिन आयु की अनुदीरणा बताई है। अप्रमत्त अवस्था आने से पूर्व भी आयुष्य व वेदनीय की उदीरणा रुकना उपर्युक्त पाठों से स्पष्ट हो जाने से तीसरे गुणस्थान में भी इनकी अनुदीरणा मानने में बाधा नहीं लगती है।

दसवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणि वाले के जब मोहनीय की स्थिति एक आवलिका मात्र शेष रहे तब पाँच कर्मों की उदीरणा होती है। उपशम श्रेणि वालों के तो दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक छह कर्मों की उदीरणा होती रहती है। इसी प्रकार बारहवें गुणस्थान में ज्ञाना॰, दर्श॰ और अन्तराय इन तीन कर्मों की स्थिति जब एक आवलिका मात्र शेष रहती है तब इन तीनों कर्मों की उदीरणा नहीं होती, नाम व गोत्र इन दो कर्मों की ही उदीरणा होती है।

6 कर्मग्रन्थ भाग–6, सप्ततिका प्रकरण–टीका पृष्ठ 243 में सयोगी केवली गुणस्थान के पूरे काल में नाम व गोत्र, इन दो कर्मों की उदीरणा बतलायी हैं।

7 कर्मों का आंशिक रूप से आत्मा से पृथक् हो जाना 'निर्जरा' है।

पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक आठों कर्मों की निर्जरा होती है। ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म के सिवाय सात कर्मों की निर्जरा होती है और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में चार अघाती कर्मों की निर्जरा होती है।

10. भाव द्वार

भाव पाँच होते हैं – 1. औदयिक[1] भाव 2. औपशमिक[2] भाव 3. क्षायिक[3] भाव 4. क्षायोपशमिक[4] भाव और 5. पारिणामिक[5] भाव।

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में – औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक – ये तीन भाव होते हैं। चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशम श्रेणि वाले में पाँचों भाव होते हैं।[6] चौथे से बारहवें गुणस्थान तक क्षपक–श्रेणि वाले में औपशमिक छोड़कर शेष चारों भाव पाये जाते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक भाव– ये तीन भाव होते हैं तथा सिद्धों में क्षायिक और पारिणामिक– ये दो भाव होते हैं।

11. कारण द्वार

बन्ध के कारण पाँच होते हैं – मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. योग।

पहले और तीसरे गुणस्थान में पाँचों ही कारण होते हैं। दूसरे और चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व के सिवाय चार कारण होते हैं। पाँचवे और छठे गुणस्थान में मिथ्यात्व तथा अविरति के सिवाय तीन कारण होते हैं। सातवें से दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग– ये दो कारण होते हैं। ग्यारहवें, बारहवें तथा तेरहवें गुणस्थान में मात्र योग ही कारण होता है। चौदहवें गुणस्थान में कोई कारण नहीं हैं, वहाँ कर्म का बन्ध ही नहीं होता।

ज्ञातव्य –

कारण द्वार में दर्शन मोहनीय के सर्वघाती अंशवाली मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय को भी मिथ्यात्व के नाम से बतला करके हेतु द्वार के संकुचित अर्थ को कुछ विस्तार (शुद्ध के साथ कुछ अशुद्ध) प्रदान किया गया है। इसमें मुख्यता अज्ञान की रही हैं, क्योंकि पहले व तीसरे गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

अतःकारण द्वार में पहले व तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का कारण माना गया है।

12. परीषह द्वार

बाईस परीषहों के नाम – 1. क्षुधा 2. तृषा 3. शीत 4.उष्ण 5. दंशमशक 6. अचेल 7. अरति 8. स्त्री 9. चर्या 10.निषद्या (बैठना) 11. शय्या 12. आक्रोश 13. वध 14.याचना 15. अलाभ 16. रोग 17. तृणस्पर्श 18. जल (मैल) 19. सत्कार–पुरस्कार 20. प्रज्ञा 21. अज्ञान और 22. दर्शन परीषह।

---

1 कर्मों के उदय से होने वाला भाव, जैसे – क्रोध आदि।

2 कर्मों के उपशम से होने वाला भाव, जैसे – उपशम समकित, उपशम चारित्र।

3 कर्मों के क्षय से होने वाला भाव, जैसे – केवलज्ञान।

4 कर्मों के क्षयोपशम से होने वाला भाव, जैसे – मतिज्ञान आदि।

5 स्वभाव से ही रहने वाला भाव, जैसे जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व।

6 जब क्षायिक समकित हो तथा उपशम श्रेणि करे तो पाँचों भाव होते हैं।

चार कर्मों के उदय से बाईस परीषह होते हैं – ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान– ये दो परीषह होते हैं। वेदनीय कर्म के उदय से ग्यारह (क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और जल–मैल) परीषह होते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से आठ परीषह होते हैं। (दर्शन–मोहनीय के उदय से एक 'दर्शनपरीषह' होता है और चारित्र–मोहनीय के उदय से सात– अचेल, अरति, स्त्री, निषद्या (बैठना), आक्रोश, याचना और सत्कार–पुरस्कार परीषह होते हैं) अन्तराय कर्म के उदय से एक अलाभ परीषह होता है।

पहले से तीसरे गुणस्थान तक मार्गस्थ नहीं होने के कारण परीषह नहीं माने जाते हैं। चौथे गुणस्थान में अविरति परिणाम होने के कारण दर्शन परीषह के सिवाय शेष परीषह संभव नहीं हैं[1]। पांचवें गुणस्थान में श्रमण भूत प्रतिमा आदि की अपेक्षा से बाईसों परीषह हो सकते हैं। छठे व सातवें गुणस्थान में 22 परीषह होते हैं। जिनमें से एक समय में एक जीव अधिक से अधिक 20 परीषह वेदता है, दो नहीं वेदता। क्योंकि शीत परीषह हो तो उष्ण नहीं होता और उष्ण हो तो शीत नहीं होता तथा चर्या परीषह हो तो निषद्या नहीं होता और निषद्या हो तो चर्या नहीं होता। आठवें गुणस्थान में दर्शन परीषह को छोड़कर 21 परीषह[2] होते हैं जिनमें से एक समय में एक जीव अधिक से अधिक 19 परीषह वेदता है (शीत, उष्ण में से एक तथा चर्या, निषद्या में से एक) नौवें गुणस्थान में अचेल, अरति व निषद्या[3] को छोड़कर शेष 18 परीषह होते हैं, जिनमें से एक समय में एक जीव अधिक से अधिक 16 परीषह वेदता है (शीत, उष्ण में से एक तथा चर्या, शय्या में से एक) दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म के आठ परीषह छोड़कर शेष चौदह परीषह होते हैं। उनमें से एक समय में एक जीव अधिक से अधिक 12 परीषह वेदता है, दो नहीं वेदता। क्योकि शीत हो तो उष्ण नहीं, उष्ण हो तो शीत नहीं, चर्या हो तो शय्या नहीं, शय्या हो तो चर्या नहीं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वेदनीय कर्म से होने वाले ग्यारह परीषह उत्पन्ना होते हैं, जिनमें से एक साथ अधिक से अधिक नौ परीषह वेदते हैं, पूर्वोक्त रीति से दो नहीं होते।

नोटः– किन्हीं आचार्यों के मत से नौवें गुणस्थान तक बाईस परीषह माने जाते हैं किन्तु कर्म प्रकृतियों का उदय देखते हुए सातवें गुणस्थान तक बाईस परीषह होते हैं। आठवें गुणस्थान में दर्शन परीषह को छोड़ कर इक्कीस परीषह होते हैं। नौवें गुणस्थान में हास्यादिक षट्क का उदय नहीं होने से अचेल, अरति और निषद्या परीषह को छोड़ कर शेष 18 परीषह होते हैं।

ज्ञातव्य –

तत्त्वार्थ सूत्र में एक समय में अधिकतम 19 परीषह वेदन का कथन है, जबकि भगवती सूत्र एक समय में 20 परीषह वेदन का उल्लेख करता है। आगमिक प्रमाण की प्राथमिकता से हमें भी थोकड़े में एक समय में 20 परीषह वेदन करने का तथ्य इस रूप में समझना चाहिए–अनिवृत्ति बादर गुणस्थान के पूर्व तक अर्थात् आठवें गुणस्थान तक चलते हुए भी शय्या की विपरीतता की पीड़ा अनुभूति में रह सकती है तथा विहारादि के पश्चात् एक स्थान पर बैठने पर शय्या की प्रतिकूलता के साथ चर्या के कारण हुई वेदना की अनुभूति भी रह सकती है, पर शय्या की विपरीतता में उस स्थान पर भय मोहनीय कर्म के कारण से होने वाला निषद्या परीषह

---

1 तत्त्वार्थ सूत्र के नवमें अध्याय के आठवें सूत्र में बताया है –

"मार्गाऽच्यवन निर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥8॥

अर्थात् मार्ग से च्युत नहीं होने और कर्मों की निर्जरा के लिए जो सहन करने योग्य हैं, वे परीषह हैं। इसलिये पहले तीन गुणस्थानों में परीषह नहीं मान कर दुःख कहना व चौथे गुणस्थान में अविरति सम्यग्–दृष्टि होने के कारण मात्र दर्शन परीषह मानना उचित लगता है।

2 क्षयोपशम समकित नहीं होने से दर्शन परीषह छोड़ा गया है।

3 भयमोहनीय का उदय आठवें गुणस्थान तक होने से अचेल, अरति व निषद्या परीषह आठवें गुणस्थान तक माना गया है, क्योंकि इन तीनों का भय मोहनीय से अधिक सम्बन्ध है।

नहीं रह सकता। यदि भय मोहनीय के उदय में एकाग्रता से बैठे हुए डर लग रहा है और उस समय थकान आदि की पीड़ा भी महसूस हो रही हो तो चर्या और निषद्या परीषह साथ में रह सकते हैं, किन्तु शय्या परीषह उस समय नहीं रह सकता।

13. आत्मा द्वार

आठ आत्माओं के नाम – 1. द्रव्य आत्मा 2. कषाय आत्मा 3. योग आत्मा 4. उपयोग आत्मा 5. ज्ञान आत्मा 6. दर्शन आत्मा 7. चारित्र आत्मा और 8. वीर्य आत्मा।

पहले और तीसरे गुणस्थान में ज्ञान और चारित्र आत्मा के सिवाय छह आत्माएँ पाई जाती हैं। दूसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थान में चारित्र आत्मा के सिवाय सात आत्माएँ होती हैं। छठे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक आठ आत्मा और ग्यारहवें से तेरहवें तक कषाय आत्मा के सिवाय सात आत्माएँ होती हैं। चौदहवें गुणस्थान में कषाय आत्मा और योग आत्मा के सिवाय छह आत्माएँ होती हैं। सिद्ध भगवान में ज्ञान, दर्शन, द्रव्य और उपयोग– ये चार आत्माएँ होती हैं।

14. जीव भेद द्वार

पहले गुणस्थान में जीव के चौदह ही भेद पाये जाते हैं। दूसरे गुणस्थान में जीव के छह भेद पाये जाते हैं– बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरेन्द्रिय और असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय, इन का अपर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय का पर्याप्त और अपर्याप्त। तीसरे गुणस्थान में जीव का एक ही भेद पाया जाता है– संज्ञी का पर्याप्त। चौथे गुणस्थान में संज्ञी का पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दो भेद पाये जाते हैं। पाँचवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक जीव का एक ही भेद– संज्ञी का पर्याप्त पाया जाता है।

15. गुणस्थान द्वार

प्रत्येक गुणस्थान अपने–अपने गुण से संयुक्त होता है। पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक आठ बोल पाये जाते हैं– 1. असंयत 2. अप्रत्याख्यानी 3. अविरत 4. असंवृत 5. अपण्डित 6. अजागृत 7. अधर्मी 8. अधर्मव्यवसायी। पाँचवें गुणस्थान में आठ बोल पाये जाते हैं – 1. संयतासंयत 2. प्रत्याख्याना–प्रत्याख्यानी 3. व्रताव्रती 4. संवृतासंवृत 5. बालपण्डित 6. सुप्त–जागृत 7. धर्माधर्मी 8. धर्माधर्मव्यवसायी। छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक आठ बोल पाये जातेहैं– 1. संयती 2. प्रत्याख्यानी 3. विरत 4. संवृत 5. पण्डित 6. जागृत 7. धर्मी 8. धर्मव्यवसायी।

दूसरी तरह से गुणस्थान द्वार–

गत्यन्तर (बाटा बहती अवस्था) जाते मार्ग में गुणस्थान तीन– 1,2,4

अमर गुणस्थान तीन – 3,12,13

अप्रतिपाति गुणस्थान तीन – 12,13,14

तीर्थंकर नामगोत्र के बन्धक गुणस्थान पाँच – 4,5,6,7,8

तीर्थंकर के लिए अस्पृश्य गुणस्थान पाँच – 1,2,3,5,11

शाश्वत गुणस्थान छह – 1,4,5,6,7[1],13

अनाहारक[2] गुणस्थान पाँच – 1,2,4,13,14

मोक्ष प्राप्त करने वाला जीव उस भव में कम से कम आठ गुणस्थान अवश्य प्राप्त करता है – 4,7,8,9,10,12, 13,14 और इस संसार अवस्थान काल में कम से कम प्रथम गुणस्थान सहित नौ गुणस्थान प्राप्त करता है।

16. योग द्वार[3]

पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में 13 योग– (1.आहारक 2. आहारक मिश्र, इन दो को छोड़कर) पाये जाते हैं।

तीसरे गुणस्थान में 10 योग (1. औदारिक–मिश्र 2. वैक्रिय–मिश्र 3. आहारक 4. आहारक मिश्र और 5. कार्मण, इन पाँचों को छोड़कर) पाये जाते हैं। पाँचवें गुणस्थान में 12 योग (1. आहारक 2. आहारक मिश्र और 3. कार्मण को छोड़कर) पाये जाते हैं। छठे गुणस्थान में कार्मण के सिवाय चौदह योग पाये जाते हैं। सातवें से बारहवें गुणस्थान तक चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिक, इस प्रकार नौ[4] योग पाये जाते हैं। तेंरहवें गुणस्थान में पाँच या सात योग होते हैं – पाँच होवें तो 1. सत्य मनोयोग 2. व्यवहार मनोयोग 3. सत्य वचन योग 4. व्यवहार वचन योग तथा 5. औदारिक– ये पाँच होते हैं। यदि सात हो, तो पाँच पूर्वोक्त और औदारिक मिश्र तथा कार्मण, इस प्रकार सात होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में योग नहीं होता।

17. उपयोग द्वार

पहले और तीसरे गुणस्थान में छह उपयोग हो सकते हैं – तीन अज्ञान–मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान और तीन दर्शन–चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन। दूसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थान में छह उपयोग होते हैं – 3 ज्ञान, 3 दर्शन। छठे से बारहवें तक सात उपयोग होते हैं – पूर्वोक्त छह और एक मनःपर्याय ज्ञान,

---

1 पंचसंग्रह भाग–2 गाथा–25 में सातवें गुणस्थान को भी शाश्वत माना गया है, जैसा कि कहा है – "मिच्छा अविरयदेसा, पमत्त अपमत्तया सजोगी य।
सव्वद्धं इयरगुणा, नाणाजीवेसु न होंती॥"

अर्थात् 1,4,5,6,7,13–ये छह गुणस्थान नाना जीव की अपेक्षा सर्वदा पाये जाते हैं। पंच संग्रह भाग 1 गाथा 53 की टीका में सातवें गुणस्थान को शाश्वत बताया है। 'उत्तरपयडीयबन्धो' ग्रन्थ के काल द्वार की 942वीं गाथा की टीका में मनःपर्यवज्ञान में आहारक द्विक का बन्ध शाश्वत बताया है। आहारक द्विक का बन्ध 7वें गुणस्थान से लेकर 8वें गुणस्थान के छठे भाग तक होता है। लेकिन श्रेणि शाश्वत नहीं होने से 8वाँ गुणस्थान शाश्वत नहीं है। अतः सातवाँ गुणस्थान शाश्वत मानना उचित लगता है।

2 औदारिक आदि के पुद्गलों को ग्रहण नहीं करने वाले को 'अनाहारक' कहते हैं। पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान विग्रह गति की अपेक्षा से अनाहारक हैं और तेरहवाँ केवली–समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समयों की अपेक्षा अनाहारक है। चौदहवें गुणस्थान में तो आहार–पुद्गलों का ग्रहण होता ही नहीं, अतः वह अनाहारक है।

3 मन वचन और काया के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में होने वाली चंचलता को 'योग' कहते हैं। इसके पन्द्रह भेद हैं।

4 (अ) प्रज्ञापना 21वाँ शरीर पद– आहारक शरीर केवल ऋद्धिप्राप्त प्रमादी को ही होता है, अप्रमादी को नहीं। (ब) दूसरे आदि कर्मग्रंथ में आहारक शरीर– अंगोपांग का उदय केवल छठे गुणस्थान में माना है, सातवें में नहीं। (स) भगवती शतक–8, उद्देशक–9 में जहाँ सर्वबंध और देशबंध– अर्थात् प्रारम्भ व पश्चात्वर्ती पूरे काल की चर्चा है, अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले देशबंध का स्वामी भी प्रमत्त संयत को ही बताया गया है। अप्रमत्त का निषेध किया गया है। (द) भगवती शतक 13 उद्देशक 9 में वैक्रिय लब्धि का प्रयोग कर यदि आलोचना किये बिना काल हो जाए, तो विराधक माना है।
(य) टीकाग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि लब्धियुपजीविता प्रमाद है। (र) समवायांग सूत्र के जीव–अजीव राशि के वर्णन में आहारक शरीर प्रमत्त को ही होना बताया है। इन सब कारणों से सातवें गुणस्थान में आहारक व वैक्रिय काययोग नहीं मानकर 9 योग मानना ही उचित लगता है।

लेकिन 10 वें गुणस्थान में 4 ज्ञान के ही उपयोग होते हैं[1]। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में केवलज्ञान और केवलदर्शन– ये दो ही उपयोग होते हैं।

18. लेश्या द्वार

पहले गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक छह लेश्याएँ पाई जाती हैं। सातवें गुणस्थान में तेजो, पद्म और शुक्ल– ये तीन लेश्याएँ होती हैं। आठवें से बारहवें तक एक शुक्ल लेश्या ही होती है। तेरहवें गुणस्थान में एक परम शुक्ल लेश्या होती है। चौदहवें गुणस्थान में लेश्या नहीं होती।

19. हेतु द्वार

हेतु सत्तावन होते हैं – 5 मिथ्यात्व, 25 कषाय, 15 योग और 12 अव्रत (6 काय 5 इन्द्रिय 1 मन)।[2]

पहले गुणस्थान में आहारक और आहारक मिश्र को छोड़कर शेष पचपन हेतु पाये जाते हैं। दूसरे गुणस्थान में पाँच मिथ्यात्व को छोड़कर पचास हेतु पाये जाते हैं। तीसरे गुणस्थान में पूर्वोक्त पचास में से चार अनन्तानुबन्धी, औदारिक–मिश्र, वैक्रिय मिश्र और कार्मण– इन सातों के सिवाय तियालीस हेतु पाये जाते हैं। चौथे गुणस्थान में पूर्वोक्त तियालीस के साथ औदारिक मिश्र, वैक्रिय मिश्र और कार्मण– ये तीन मिलाने से छियालीस हेतु पाये जाते हैं। पाँचवें गुणस्थान में, छियालीस में से अप्रत्याख्यानी कषाय की चौकड़ी, त्रस की अविरति और कार्मण– ये छह घटा कर चालीस हेतु पाये जाते हैं। छठे गुणस्थान में सत्ताइस हेतु पाये जाते हैं – 14 योग और 13 कषाय[3]। सातवें, आठवें गुणस्थान में, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र, आहारक और आहारक मिश्र इन पाँच को छोड़ कर बाईस हेतु पाये जाते हैं। नौवें गुणस्थान में हास्य आदि छह के सिवाय 16 हेतु पाये जाते हैं। दसवें गुणस्थान में नौ योग और संज्वलन का लोभ, ये दस हेतु पाये जाते हैं। ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में, चार मन के, चार वचन के और एक औदारिक–ये नौ हेतु पाये जाते हैं। तेरहवें गुणस्थान में पाँच तथा सात हेतु पाये जाते हैं– 1. सत्य मनोयोग, 2.व्यवहार मनोयोग, 3. सत्य भाषा, 4.व्यवहार भाषा, 5. औदारिक, 6 औदारिक–मिश्र और 7 कार्मण (अगर 5 हेतु पावेंगे तो औदारिक मिश्र व कार्मण छोड़ना)। चौदहवें गुणस्थान में कोई भी हेतु नहीं होता[4]।

ज्ञातव्य –

हेतु द्वार में मिथ्यात्व को मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से होने वाले आत्म–परिणाम के संकुचित (शुद्ध) अर्थ में लिया गया है। वहाँ मिथ्यात्व के पाँच भेद ग्रहण किये गये और उनका सम्बन्ध मिथ्यात्व मोहनीय के विपाक उदय से होने के कारण मिथ्यात्व का हेतु केवल पहले गुणस्थान तक ही माना गया है।

20. मार्गणा द्वार[5]

- पहले गुणस्थान में आगति मार्गणा पांच (2,3,4,5,6) गति मार्गणा चार (3,4,5,7)

---

1 भगवती सूत्र शतक 25 उद्देशक 7 में दसवें गुणस्थान में 4 ज्ञान के ही उपयोग बताये हैं, लेकिन क्षयोपशम की दृष्टि से 3 अनाकार उपयोग भी होते हैं। अतः क्षयोपशम की दृष्टि से 7 एवं प्रवृत्ति की दृष्टि से 4 उपयोग मानना उचित प्रतीत होता है।

2 छह काय की यतना न करना और पाँच इन्द्रिय तथा मन को वश में न रखना।

3 संज्वलन की चौकड़ी और नव नो कषाय।

4 हेतु द्वार को संक्षेप में स्मृति में रखने के लिये निम्न पद्धति सरल लगती है– 55,50,43,46,40,27,22,22,16,10,9,9,5 या 7, तथा कोई हेतु नहीं।

5 यहाँ मार्गणा का तात्पर्य सीधा आने व जाने के मार्ग से है। जैसे– पहले गुणस्थान में आगति मार्गणा पाँच यानी पहले गुणस्थान में जीव सीधा पाँच गुणस्थानों (2,3,4,5,6) से आ सकता है और गति मार्गणा 4 यानी पहले गुणस्थान का जीव यदि पडिवाई है तो वह सीधा चार गुणस्थानों (3,4,5,7) में जा सकता है। इस द्वार में 1,2 आदि संख्या दी है, ये गुणस्थानों के क्रम संख्या की अपेक्षा है।

- दूसरे गुणस्थान की आगति मार्गणा तीन (4,5,6) गति मार्गणा एक (1)
- तीसरे गुणस्थान की आगति मार्गणा चार (1,4,5,6) गति मार्गणा दो (1,4)
- चौथे गुणस्थान की आगति मार्गणा नौ (1,3,5,6,7,8,9,10,11) गति मार्गणा पाँच (1,2,3,5,7)
- पाँचवें गुणस्थान की आगति मार्गणा चार (1,3,4,6) गति मार्गणा पाँच (1,2,3,4,7)
- छठे गुणस्थान की आगति मार्गणा एक (7) गति मार्गणा छह (1,2,3,4,5,7)
- सातवें गुणस्थान की आगति मार्गणा छह (1,3,4,5,6,8) गति मार्गणा तीन (6,8, काल करे तो 4)
- आठवें गुणस्थान में आगति मार्गणा दो (7,9) गति मार्गणा तीन (7,9, काल करे तो 4)
- नवें गुणस्थान में आगति मार्गणा दो (8,10) गति मार्गणा तीन (8,10, काल करे तो 4)
- दसवें गुणस्थान की आगति मार्गणा दो (9,11) गति मार्गणा चार (9,11,12, काल करे तो 4)
- ग्यारहवें गुणस्थान की आगति मार्गणा एक (10) गति मार्गणा दो (10, काल करे तो 4)
- बारहवें गुणस्थान की आगति मार्गणा एक (10) गति मार्गणा एक (13)
- तेरहवें गुणस्थान की आगति मार्गणा एक (12) गति मार्गणा एक (14)

<u>तीसरे गुणस्थान की गति मार्गणा से सम्बन्धित ज्ञातव्य–</u>

(i) कर्म प्रकृति भाग–2 गाथा–72, (ii) पंचसंग्रह भाग 8 गाथा–72, (iii) रम्यरेणुजी कृत पंच संग्रह भाग–1 पेज–92, (iv) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग 2 पृष्ट–247 में उल्लेखित प्रमाणों के आधार पर तीसरे गुणस्थान की गति मार्गणा में पहला तथा चौथा गुणस्थान ही लिया है। तीसरे गुणस्थान में मिश्र अवस्था होने से एक साथ समकित व श्रावकपना अथवा साधुपना प्राप्त करने योग्य विशुद्धि नहीं बन पाती है, इसलिए गति मार्गणा में पहला तथा चौथा ये दो ही गुणस्थान लेना अधिक संगत प्रतीत होता है।

- चौदहवें गुणस्थान की आगति मार्गणा एक (13) गति मार्गणा एक– मोक्ष।[1]

21. ध्यान द्वार[2]

पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान पाये जाते हैं। चौथे और पाँचवें में आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान और धर्मध्यान पाये जाते हैं। छठे में आर्त्तध्यान और धर्मध्यान होता है। सातवें में केवल धर्मध्यान ही है। आठवें से चौदहवें तक शुक्लध्यान पाया जाता है।

22. दण्डक द्वार

पहले गुणस्थान में चौबीस दण्डक, दूसरे में चौबीस में से पाँच स्थावर के छोड़कर उन्नीस, तीसरे और चौथे में (उन्नीस में से तीन विकलेन्द्रिय के छोड़कर) सोलह, पाँचवें में संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य – ये दो, छठे से चौदहवें गुणस्थान तक मनुष्य का एक दण्डक पाया जाता है।

23. जीवयोनि द्वार

---

1 उपशम श्रेणि वाला 8 वे गुणस्थान से चढ़ते हुये 11 वें के पहले नहीं गिरता है, काल कर सकता है। क्षपक श्रेणि वाला तो गिरता ही नहीं है, वह तो अंतर्मुहूर्त में केवली हो ही जाता है।

2 ध्यान सन्नी जीवों के पर्याप्त में ही होता है। छद्मस्थ की चित्त की एकाग्रता को 'ध्यान' कहते हैं तथा केवली भगवन्तों के योग–निरोध की अपेक्षा तथा चौदहवें गुणस्थान में अयोगीपन की अपेक्षा से ही ध्यान कहा है। असन्नी जीवों में ध्यान सम्भव नहीं है।

पहले गुणस्थान में चौरासी लाख[1] जीवयोनि। दूसरे गुणस्थान में (एकेन्द्रिय की 52 लाख छोड़कर) बत्तीस लाख। तीसरे, चौथे गुणस्थान में (तीन विकलेन्द्रिय की छह लाख घटाकर) छब्बीस लाख, पाँचवें गुणस्थान में (चौदह लाख मनुष्यों की और चार लाख तिर्यंचों की – इस प्रकार) अठारह लाख, छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक मनुष्य की चौदह लाख जीवयोनियाँ पाई जाती हैं।

24. निमित्त द्वार

पहले से चौथे तक चार गुणस्थान, दर्शनमोहनीय के निमित्त से होते हैं। पाँचवें से बारहवें तक आठ गुणस्थान चारित्र मोहनीय के निमित्त से होते हैं। तेरहवाँ योगों के सद्भाव के निमित्त से तथा चौदहवाँ गुणस्थान योगों के अभाव के निमित्त से होता है।

25. चारित्र द्वार

पहले से चौथे गुणस्थान तक चारित्र नहीं होता, पाँचवें गुणस्थान में देश चारित्र, छठे और सातवें गुणस्थान में तीन चारित्र होते हैं – 1. सामायिक[2] 2. छेदोपस्थापनीय[3] और 3. परिहार विशुद्धि[4]। आठवें, नौवें गुणस्थान में दो चारित्र होते हैं – 1. सामायिक 2. छेदोपस्थापनीय। दसवें गुणस्थान में एक सूक्ष्मसम्पराय[5] चारित्र होता है। ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक यथाख्यात[6] चारित्र होता है।

26. आकर्ष द्वार[7]

पहले गुणस्थान का तीसरा भंग (सादि सपर्यवसित), तीसरा, चौथा और पाँचवाँ गुणस्थान एक भव की अपेक्षा जघन्य एक बार, उत्कृष्ट पृथक्त्व हजार बार प्राप्त हो सकता है। अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार, उत्कृष्ट असंख्यात बार प्राप्त हो सकता है। दूसरा गुणस्थान एक भव की अपेक्षा जघन्य एक बार, उत्कृष्ट दो बार और अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार, उत्कृष्ट पाँच बार प्राप्त हो सकता है। छठा और सातवाँ गुणस्थान[8] मिलाकर एक भव की अपेक्षा जघन्य एक बार, उत्कृष्ट पृथक्त्व 100 बार, अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार, उत्कृष्ट पृथक्त्व 1000 बार। आठवाँ, नववाँ, दसवाँ गुणस्थान एक भव में जघन्य 1 बार, उत्कृष्ट 4 बार, अनेक भवों की अपेक्षा जघन्य दो बार, उत्कृष्ट नौ बार। ग्यारहवाँ गुणस्थान एक भव में जघन्य

---

1 चौरासी लाख जीवयोनि इस प्रकार हैं– 7 लाख पृथ्वीकाय, 7 लाख अप्काय, 7 लाख तेउकाय, 7 लाख वायुकाय, 10 लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, 14 लाख साधारण वनस्पतिकाय, 2 लाख द्वीन्द्रिय, 2 लाख त्रीन्द्रिय, 2 लाख चतुरिन्द्रिय, 4 लाख देवता, 4 लाख नारकी, 4 लाख तिर्यंच पंचेन्द्रिय और 14 लाख मनुष्य।

2 जिस चारित्र में समता–भाव की प्राप्ति हो, उसे 'सामायिक चारित्र' कहते हैं।

3 पहले ग्रहण किये हुए संयम को छेद कर फिर संयम में आना– अर्थात् पहले जितने दिन संयम पालन किया हो, उसे न गिन कर दूसरी बार संयम लेने के समय से दीक्षाकाल गिनना और बड़े छोटे का व्यवहार करना, इसे 'छेदोपस्थापनीय चारित्र' कहते हैं।

4 जिसमें परिहार–विशुद्ध नाम की तपस्या की जाती है, उसे परिहार–विशुद्धि चारित्र कहते हैं। इस चारित्र की आराधना छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले ही कर सकते हैं।

5 जिस चारित्र में कषाय का सूक्ष्म उदय रहता है, उसे 'सूक्ष्मसंपराय चारित्र' कहते हैं। इसमें सूक्ष्म (संज्वलन) लोभ का ही उदय होता है।

6 जिस चारित्र में लेश मात्र भी कषाय नहीं रहती, उसे 'यथाख्यात चारित्र' कहते हैं।

7 जीव एक भव की अपेक्षा और अनेक भवों की अपेक्षा प्रत्येक गुणस्थान को जघन्य और उत्कृष्ट कितनी बार फरस सकता है, उस फरसने की संख्या विशेष को आकर्ष कहते हैं।

8 वैसे तो छठे सातवें गुणस्थान में जीव एक भव में करोड़ों बार आ जा सकता है, लेकिन इन दोनों गुणस्थानों को छोड़कर वापिस इन्हीं गुणस्थानों में जीव पृथक्त्व 100 बार से ज्यादा नहीं आ सकता है।

1 बार, उत्कृष्ट 2 बार, अनेक भवों में जघन्य दो, उत्कृष्ट चार बार। बारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान एक भव में एवं एक बार ही प्राप्त होता है।

27. समकित द्वार

क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होता है। उपशम सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षायोपशमिक (वेदक) सम्यक्त्व चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है। सास्वादन सम्यक्त्व दूसरे गुणस्थान में होता है। मिथ्यात्व और मिश्र गुणस्थान में सम्यक्त्व नहीं है।

28. अन्तर द्वार

पहले गुणस्थान के तीसरे भंग का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छासठ सागर झाझेरा है। दूसरे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान (चौथे गुणस्थान को छोड़कर) तक का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन (कुछ कम) अर्द्ध पुद्गल परावर्तन है, किन्तु चौथे गुणस्थान का जघन्य अन्तर एक समय है[1]। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का अन्तर नहीं है।[2]

29. अल्प बहुत्व द्वार

ग्यारहवें गुणस्थान वाले जीव सब से थोड़े हैं और वे प्रतिपद्यमान की अपेक्षा 54 ही पाये जाते हैं[3]। ग्यारहवें गुणस्थान की अपेक्षा बारहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले संख्यात गुण अधिक हैं। क्षपक–श्रेणि वाले प्रतिपद्यमान एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न पृथक्त्व सौ पाये जाते हैं। इनसे आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान वाले परस्पर तुल्य एवं बारहवें गुणस्थान वालों की अपेक्षा विशेषाधिक होते हैं। इन तीनों गुणस्थानों के मिलाकर संख्यात गुण हैं। किन्तु दोनों श्रेणियों में मिलाकर भी पृथक्त्व[4] सौ ही हैं। उनकी अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान वाले संख्यात गुण हैं और ये एक समय में पृथक्त्व करोड़ पाये जाते हैं। उनकी अपेक्षा सातवें गुणस्थान वाले संख्यात गुण हैं और ये एक समय में पृथक्त्व हजार करोड़[5] पाये जाते हैं। उनकी अपेक्षा छठे गुणस्थान वाले संख्यात गुण हैं और ये भी एक समय में पृथक्त्व हजार करोड़ पाये जाते हैं। उनकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान वाले असंख्यात

---

1 भगवती सूत्र शतक–12, उद्देशक–9, में धर्मदेव का संचिट्ठण काल जघन्य एक समय का ही माना गया है। जीवाभिगम सूत्र में असंयति का जघन्य अन्तर एक समय बताया गया है। इस अपेक्षा से चौथे गुणस्थान का जघन्य अन्तर एक समय मानना उपयुक्त लगता है।

2 किसी गुणस्थान से एक बार च्युत हो कर दूसरी बार फिर उसी गुणस्थान में आने तक जितना काल बीच में व्यतीत होता है, उसे 'अन्तर' कहते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान के पहले दो भंगों में अन्तर नहीं होता। क्योंकि वे उस गुणस्थान से छूटते ही नहीं हैं। दूसरे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान (चौथे गुणस्थान को छोड़कर) के जीव, अपने गुणस्थान से च्युत होकर कम से कम अन्तर्मुहूर्त में और अधिक से अधिक कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल में उन उन गुणस्थानों में आते हैं, इसी कारण इनमें इतने समय का अन्तर बतलाया गया है। बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले जीव इन गुणस्थान से च्युत होकर फिर इन गुणस्थान में नहीं आते, एक बार चढ़कर सिद्ध हो जाते हैं। अतएव इनका कुछ भी अन्तर नहीं हैं। यह अन्तर एक जीव की अपेक्षा है।

बहुत जीवों की अपेक्षा अन्तर इस प्रकार है– उपशम श्रेणि के (आठवाँ, नवमाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ) गुणस्थानों का अन्तर जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पृथक्त्व वर्ष का, क्षपकश्रेणि के (आठवाँ, नवमाँ, दसवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ) गुणस्थानों का अन्तर जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छह माह का, दूसरे व तीसरे गुणस्थानों का अन्तर जघन्य एक समय, उत्कृष्ट पल के असंख्यातवें भाग का होता है। शेष छह गुणस्थान शाश्वत होने से बहुत जीवों की अपेक्षा उनका अन्तर नहीं होता है। आठ अशाश्वत गुणस्थानों में दूसरा व तीसरा उत्कृष्ट असंख्याता उत्सर्पिणी अवसर्पिणी तक तथा शेष छह गुणस्थान उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक निरन्तर रह सकते हैं।

3 यह 54 की संख्या प्रतिपद्यमान (वर्त्तमान) एक समय में श्रेणि प्रारंभ करने वालों की अपेक्षा से है। पूर्वप्रतिपन्न हो, तो वे इनसे विशेष होंगे। यही बात 12 वें और 14 वें गुणस्थान के विषय में भी समझनी चाहिए।

4 पृथक्त्व का अर्थ प्रायः 2 से 9 तक माना जाता है।

5 छठे, सातवें गुणस्थान की अल्पबहुत्व कर्मग्रन्थ भाग 5 की गाथा 63 के विवेचन के आधार पर दी गई है। वहाँ सातवें गुणस्थान वालों की संख्या उत्कृष्ट दो हजार करोड़ बतायी है तथा छठे गुणस्थान वाले इनसे संख्यात गुणा होने से छह, सात हजार करोड़ हो सकते हैं।

गुण हैं[1]। इनकी अपेक्षा दूसरे गुणस्थान वाले असंख्यात गुण[2] हैं। दूसरे गुणस्थान वालों की अपेक्षा तीसरे गुणस्थान वाले जीव असंख्यातगुण[3] हैं। तीसरे गुणस्थान वालों की अपेक्षा चौथे गुणस्थान वाले असंख्यात गुण[4] हैं। चौथे गुणस्थान वालों से[5] पहले गुणस्थान वाले जीव अनन्तगुण[6] हैं। उक्त अल्प बहुत्व उत्कृष्ट संख्या की अपेक्षा से है। जघन्य में संख्या कम भी हो सकती है।

॥ गुणस्थान स्वरूप समाप्त ॥

1 क्योंकि असंख्यात गर्भज तिर्यंच भी इस पाँचवें गुणस्थान में हैं।

2 दूसरे गुणस्थान वाले पाँचवें गुणस्थान गुणस्थान से असंख्यात इस कारण हैं कि पाँचवाँ गुणस्थान केवल मनुष्य और तिर्यचों को होता है, किन्तु दूसरा गुणस्थान तो चारों गति के जीवों को हो सकता है। इसके सिवाय दूसरा गुणस्थान विकलेन्द्रियों को भी होता है, परन्तु पाँचवाँ नहीं हो सकता।

3 यद्यपि दूसरा और तीसरा गुणस्थान चारों गतियों में पाया जाता है, परन्तु दूसरे की अपेक्षा तीसरे की स्थिति संख्यात गुणी है, तथा दूसरा गुणस्थान तो मात्र उपशम समकित से गिरते हुए ही आ सकता है, किन्तु मिश्र गुणस्थान मिथ्यात्व से चढ़ते हुए अथवा त्रिपुंज सहित प्रथमोपशम से गिरते समय अथवा क्षयोपशम से गिरते हुए चौथे, पाँचवें, छठे किसी भी गुणस्थान से आ सकता है। इस कारण तीसरे गुणस्थान वाले जीव दूसरे से असंख्यात गुण हैं।

4 तीसरे गुणस्थान की अपेक्षा चौथे की स्थिति बहुत अधिक है और वह भी चारों गति में पाया जाता है। अतः चौथे गुणस्थान वाले जीव, उनकी अपेक्षा अधिक है।

5 यहाँ एक बोल और भी कहते हैं– चौथे गुणस्थान से सिद्ध भगवंत अनन्त गुण हैं। फिर सिद्धों से पहले गुणस्थान वाले अनन्त गुण हैं।

6 सूक्ष्म व साधारण वनस्पतिकाय के जीव, सभी मिथ्यादृष्टि हैं, अतएव पहले गुणस्थान वाले, चौथे गुणस्थान वालों से तथा सिद्ध भगवन्तों से भी अनन्त गुण हैं।

निबन्ध विभाग–

अनेकान्तवाद

चराचर जगत की अनन्त धर्मात्मकता और मानवीय ज्ञान की सीमितता

इस सृष्टि में अनन्तानन्त चेतन (जीव) और जड़ (अजीव) पदार्थ हैं। उनमें से प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणों (शक्तियों) और विशेषताओं (धर्मों) का पुंज है। इसलिए कहा गया है कि एक ही द्रव्य में अनेक धर्म समाहित हैं। वह किसी अपेक्षा से नित्य है तो अनित्य भी, स्थितिशील है तो गतिशील भी, हल्का है तो भारी भी, शीतल है तो उष्ण भी। सामाजिक सम्बन्धों की अपेक्षा से भी एक ही व्यक्ति के अनेक रूप हैं। कोई व्यक्ति पुत्र की अपेक्षा से पिता है तो पिता की अपेक्षा से पुत्र है। बहिन की अपेक्षा से भाई है तो पत्नी की अपेक्षा से पति है। शिष्य की अपेक्षा से गुरु है तो सेवक की अपेक्षा से स्वामी है। प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति पर यह बात समान रूप से लागू होती है। वस्तु के इस अनन्त धर्मात्मक स्वरूप के कारण को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है– **"उप्पन्नेइ वा, विगमेई वा, धुवेइ वा"** द्रव्य, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। वस्तु में इन तीनों धर्मों की सत्ता है। उदाहरण के लिए स्वर्ण द्रव्य है। किसी ने उसके कड़े बनवा लिए हैं, फिर इन कड़ों से चेन (जंजीर) बनवा ली। इस प्रक्रिया में कड़ा रूप से अवस्था बदल कर (व्यय होकर) चेन रूप अवस्था (उत्पादन) में भी आ गई। लेकिन इन दोनों अवस्थाओं में स्वर्णत्व गुण स्थायी रूप से विद्यमान रहा। विश्व के प्रत्येक पदार्थ के बारे में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की यह बात समान रूप से लागू होती है। चाहे दूध से दही बनाने की बात हो, चाहे बर्फ से जल बनाने का प्रसंग हो। उत्पाद, व्यय का क्रम चलता रहता है, पर उसमें जो गुण–धर्म है, वह सदा विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पदार्थ के गुण कभी नष्ट नहीं होते और न वे अपने स्वभाव को बदलते हैं, पर पर्याय की दृष्टि से उनमें परिवर्तन होता रहता है।

वस्तु या पदार्थ में रहे हुए ये गुण–धर्म कभी अविरोधी प्रतीत होते हैं और कभी परस्पर विरोधी भी। जो नित्य है, वह अनित्य, जो अस्थिर है वह गतिशील, जो शीत है, वह उष्ण भी प्रतीत होता है। इन विरोधी गुण–धर्मों को समझना साधारण मनुष्य के लिए सहज नहीं है। मनुष्य की जिज्ञासा अनन्त हैं और उसकी पूर्ति के जो साधन हैं, वे सीमित हैं। जिज्ञासा की उत्पत्ति व पूर्ति के मनुष्य के पास दो मुख्य साधन हैं – इन्द्रियाँ और मन। परन्तु ये दोनों ही साधन अपूर्ण व अपर्याप्त हैं। इनके माध्यम से किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति को एक सीमा तक ही जाना व समझा जा सकता है। इन्द्रिय और मन के माध्यम से हम वस्तु के वास्तविक सत्य तक नहीं पहुँच पाते। हम उनके माध्यम से जो अनुभूति करते हैं, उसे सत्य मान बैठते हैं और हमारी यह अनुभूति असंदिग्ध हो, प्रामाणिक हो, पूर्ण हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए एक विशाल पर्वत को लें। अनेक पर्वतारोही भिन्न–भिन्न दिशाओं के मार्ग से उस पर्वत पर चढ़ते हैं और अपनी–अपनी दिशा से उसके चित्र लेते हैं। इस प्रकार लिए हुए चित्र एक नहीं होंगे। वे परस्पर भिन्न होंगे, एक–दूसरे से विपरीत भी हो सकते हैं पर इन चित्रों को हम असत्य या मिथ्या नहीं कह सकते हैं। वे अपने–अपने सन्दर्भ में, अपने–अपने पक्ष से सत्य हैं पर किसी एक चित्र को सर्वथा सत्य नहीं कह सकते। जब इन सभी चित्रों को मिला कर देंखे तो पर्वत का समग्र रुप आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो सकता है। प्रत्येक चित्र उस पर्वत के एक ही अंश को अभिव्यक्त करता है पर सब चित्र मिल कर उसको सर्वांश में प्रकट करते हैं। खण्ड़ सत्य से अखण्ड सत्य के साक्षात्कार की यह प्रक्रिया अनेकान्तवाद दर्शन से ही संभव है।

उपर्युक्त स्थिति तो सामान्य दर्शक या व्यक्ति की है, पर जिस व्यक्ति ने आध्यात्मिक साधना द्वारा अपनी ज्ञान, दर्शन की शक्तियों का पूर्ण विकास कर लिया है, केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन गया है। ऐसा वीतरागी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के समग्र सत्य का अनुभव तो कर सकता

है। पर उसे व्यक्त नहीं कर सकता। उसकी अभिव्यक्ति की, वाणी की अपनी सीमा है। दूसरे शब्दों में पूर्ण सत्य को निरपेक्ष सत्य को अनुभव तो किया जा सकता है पर उसका एक समय में, एक साथ कथन नहीं किया जा सकता। निरपेक्ष सत्य का कथन अनेकान्त दृष्टिकोण से स्याद्वाद के माध्यम से ही सम्भव है।

जब पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण द्रष्टा की यह स्थिति है तो फिर सामान्य व्यक्ति के लिए तो कहना ही क्या? इस दृष्टि से वस्तु के स्वरूप को जानने और समझने में अनेकान्त दृष्टि बड़ी सहायक, उपादेय और मार्गदर्शक है। यही एक ऐसी दृष्टि है, जिससे जीवन और समाज में शांति, सुख व व्यवस्था सम्भव बनी रह सकती है।

अनेकान्त की अवधारणा

अनेकान्त एक समग्र जीवन दृष्टि है। 'अनेकान्त' दो शब्दों से मिलकर बना है। 'अनेक' + 'अन्त'। 'अन्त' शब्द का अर्थ यहाँ धर्म और गुण से है। 'अनेकान्त' का शाब्दिक अर्थ हुआ अनेक धर्म, अनेक गुण। किसी भी वस्तु या पदार्थ को अनेक दृष्टियों से, अनेक सन्दर्भों से, अनेक अवस्थाओं से देख–समझ कर उसमें निहित अनेक विशेषताओं को हृदयंगम करना अनेकान्त दर्शन है। एक समय में एक गुण–धर्म को मुख्यता देते हुए भी उसमें निहित अन्य गुण धर्मों का निषेध नहीं करना 'अनेकान्त' दर्शन की मौलिक विशेषता है।

प्रायः देखने में आता है कि व्यक्ति किसी एक मत, सिद्धान्त या विचार पर अड़ा रहता है। वह अपने अतिरिक्त दूसरों की बात मानना तो दूर रहा, सुनने की उदारता तक नहीं बरतता। इस दुराग्रह और हठवादिता के कारण ही वातावरण तनावपूर्ण बना रहता है। वैचारिक दुराग्रह का मुख्य कारण थोथा दम्भ और स्वार्थ–वृत्ति है, जिसके विचारों में जितनी अधिक जटिलता और वक्रता होगी, वह उतना ही अधिक अडियल व जिद्दी होगा। वैचारिक उदारता, जीवन की सरलता और चिन्तन की तटस्थता पर निर्भर करती है। जिसका अहम् गल गया है, जिसकी अपने अतिरिक्त शेष सृष्टि के प्रति आत्मीयता व मैत्री की भावना है, वही दूसरे के सुःख–दुःख को समझ सकता है और अहिंसा की गहराई पकड़ पाता है। अहिंसा की यह गहराई कायिक अहिंसा तक सीमित नहीं रहती, वह वाचिक और मानसिक अहिंसा को प्रयोगात्मक और व्यावहारिक रूप देती है। यही अनेकान्त वाद है। जहाँ अनेकान्त दृष्टि है, वहाँ संघर्ष नहीं, सहयोग का वृक्ष फलता–फूलता है, वहाँ विवाद का विष नहीं, संवाद का अमृत–कलश छलकता है। अनेकान्त दृष्टि सकारात्मक दृष्टि है, निषेधात्मक नहीं, खण्डनात्मक नहीं। वस्तु के खण्ड–खण्ड को देखकर उसके अखण्ड स्वरूप तक पहुँचने का मार्ग अनेकान्त है।

भगवान महावीर ने अनेकान्त दर्शन के माध्यम से विभिन्न दार्शनिक गुत्थियों को सुलझा कर विचार सहिष्णुता का एक नवीन मार्ग प्रस्तुत किया। उनके द्वारा प्रतिपादित 'कर्म–सिद्धान्त' के विविध आयाम अनेकान्त दृष्टि के सूचक हैं। "भगवती–सूत्र" में भगवान महावीर ने अनेकान्त दृष्टि से विभिन्न प्रश्नों के उत्तर देकर दार्शनिक और व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

1. लोक शाश्वत है या अशाश्वत? जमालि द्वारा पूछे गए इस प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने कहा–लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। त्रिकाल में एक भी ऐसा समय नहीं मिल सकता जब लोक न हो। अतः लोक शाश्वत है, पर लोक सदैव एक सा नहीं रहता, कालक्रम से उसमें उन्नति–अवनति होती रहती है। अतः वह अनित्य और परिवर्तनशील होने के कारण अशाश्वत भी है।

(भगवती सूत्र – 9/33/387)

2. लोक सान्त है या अनन्त ? परिव्राजक स्कन्दक के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा – द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक और सान्त है, क्षेत्र की अपेक्षा से लोक असंख्यात कोटा–कोटि योजन विस्तार और असंख्यात कोटा–कोटि योजन– परिधि वाला है, अतः सान्त है। काल की दृष्टि से कोई काल ऐसा नहीं, जब लोक न हो। अतः लोक अनन्त है।

(भगवती–सूत्र – 2/1/90)

3. जीव शाश्वत है या अशाश्वत? इन्द्रभूति गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में प्रभु महावीर ने कहा कि द्रव्यार्थिक दृष्टि से जीव शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से जीव अशाश्वत है।

(भगवती–सूत्र – 7/2/273)

4. तत्त्वज्ञा श्राविका जयन्ती के यह पूछने पर कि जीव का सोना अच्छा है या जागना? इसके उत्तर में भगवान् महावीर ने फरमाया – जो जीव अधार्मिक वृत्ति के हैं, उनका सोते रहना अच्छा है। क्योंकि शयन अवस्था में वे किसी को दुःख नहीं देंगे, अधार्मिक क्रियाएँ नहीं करेंगे और जो जीव धार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका जागना अच्छा है। क्योंकि वे जागृत अवस्था में जीवों को सुःख देंगे, धर्म–जागरणा में लगे रहेंगे।

(भगवती–सूत्र – 12/2/443)

इस प्रकार विरोधी प्रतीत होने वाले विभिन्न प्रश्नों के सटीक उत्तर देकर भगवान महावीर ने तत्त्व–जिज्ञासुओं का समाधान किया और व्यापक तथा उदार दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति पर चिन्तन–मनन करने की एक नई विधायक दृष्टि प्रदान की।

स्याद्वाद का स्वरूप

अनेकान्त विचार – दर्शन है तो स्याद्वाद उस विचार दर्शन को व्यक्त करने की शैली। विषय का ज्ञान अनेकान्त है और उसकी कथन–शैली स्याद्वाद है।

'स्याद्वाद' दो शब्दों से मिलकर बना है – 'स्यात्' और 'वाद'। 'स्यात्' का अर्थ – 'शायद' 'सम्भवतः', 'कदाचित्' आदि करके कई लोगों ने 'स्याद्वाद' को 'संशयवाद', 'सम्भावनावाद' 'अनिश्चयवाद', आदि समझने की भूल की है। पर 'स्यात' वस्तुतः तिङ्.न्त शब्द नहीं है। यह निपात अव्यय है। इसका विशिष्ट अर्थ है – कंथचित्, विवक्षा, अपेक्षा। वाद का अर्थ है – वाणी, वचन, कथन।

'स्याद्वाद' की यह खूबी है कि वह प्रत्येक वस्तु पर साम्य दृष्टि और समन्वयकारी वृत्ति से विचार करता है। 'स्याद्वाद' सच्चे न्यायाधीश की तरह है, जो वादी–प्रतिवादी दोनों पक्षों के बयानों को सुनकर उनकी पूरी जाँच–पड़ताल करके निष्पक्ष फैसला देता है, विरोधी विचारों में समन्वय स्थापित करता है। 'स्याद्वाद' की दृष्टि सत्यशोधक की दृष्टि है। यह दृष्टि बड़ी पैनी और तीक्ष्ण होने के साथ–साथ व्यापक और उदार भी है। 'स्यात्' शब्द बड़ा अर्थ व्यंजक है, उसके माध्यम से वस्तु में विद्यमान अविवक्षित गुण धर्मों के अस्तित्व की रक्षा होती है। उदाहरण के लिये जब हम कहते हैं – 'स्यात् रूपवान घटः' तो इसमें 'स्यात्' शब्द घट में रहे हुए रूप के अस्तित्त्व की सूचना के साथ न जुड़कर घड़े में रहे हुए अन्य–गुण–धर्मों–गंध, रस, स्पर्श की विवक्षा भी करता है। घड़े के रूप गुण के साथ 'स्यात्' शब्द का जुड़ाव नहीं है, क्योंकि रूप गुण तो गुणवान शब्द से स्पष्टतया प्रकट है। दूसरे शब्दों में 'स्यात्' शब्द इस सत्य पर बल देता है कि घड़ा रूपवान तो है ही पर उसमें रस, गंध, स्पर्श आदि जो गुण हैं, वे उपेक्षणीय नहीं है। जो अन्य गौण–धर्म हैं, उनकी अवस्थिति भी घड़े में है। इस प्रकार 'स्यात्' शब्द किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक और सजग प्रहरी है जब भी वस्तु के समग्र स्वरूप को जानना–समझना हो, तब अपने को, जो अविवक्षित विरोधी गुणधर्म है, उनके साथ रखकर, वस्तु को देखो, तभी वस्तु का सही स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा। विश्व मानवता की रक्षा में स्याद्वाद के माध्यम से शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व की विशेष दृष्टि मिलती है। जिसकी आज पूरे विश्व को अत्यधिक आवश्यकता है।

सप्तभंगी –

'स्याद्वाद' की भाषायी अभिव्यक्ति सप्तभंगी के रूप में प्रकट होती है। इसके सात विकल्प इस प्रकारहैं –

1. **स्याद् अस्ति–** किसी अपेक्षा से है।
2. **स्याद् नास्ति–** किसी अपेक्षा से नहीं है।
3. **स्याद् अस्ति–नास्ति–** किसी अपेक्षा से है, किसी अपेक्षा से नहीं है।
4. **स्याद् अवक्तव्य–** है भी, नहीं भी, पर युगपत् कहा नहीं जा सकता।
5. **स्याद् अस्ति अवक्तव्य–** कथंचित् है पर एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता।
6. **स्याद् नास्ति अवक्तव्य–** कथंचित् नहीं है, पर अवक्तव्य है।
7. **स्याद् अस्ति–नास्ति अवक्तव्य–** किसी अपेक्षा से है, पर किसी अपेक्षा से नहीं है, पर दोनों बातें एक साथ प्रकट नहीं की जा सकती।

इन सात विकल्पों में प्रथम चार विकल्प अधिक व्यावहारिक हैं। अन्तिम तीन विकल्पों में प्रथम विकल्पों का ही विस्तार किया गया है। प्रथम चार विकल्पों को निम्न उदाहरण से भली प्रकार समझा जा सकता है :–

तीन व्यक्ति (पितामह, पिता और पुत्र) एक स्थान पर खड़े हैं। किसी आगन्तुक ने पिता से पूछा कि क्या आप इनके (पुत्र) पिता हैं? पिता ने उत्तर दिया – हाँ (स्याद् अस्ति) अपने इस पुत्र की अपेक्षा से मैं पिता हूँ, किन्तु इन पिताजी (पितामह) की अपेक्षा मैं पिता नहीं हूँ (स्याद् नास्ति) इस प्रकार मैं पिता हूँ भी, नहीं भी हूँ (स्याद् अस्ति–नास्ति) किन्तु एक साथ दोनों बाते कहीं नहीं जा सकती (स्याद् अवक्तव्य) इसलिए क्या कहूँ।

स्याद्वाद की यह वचन शैली जीवन का सहज धर्म है। इसको अपनाकर हम अपने वैचारिक द्वन्द्व, आपसी टकराहट, दैनन्दिन संघर्ष, पारिवारिक तनाव आदि मिटा सकते हैं।

जीवन के विविध क्षेत्रों में अनेकान्त की चरितार्थता

अनेकान्त और स्याद्वाद का जो दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ, वह विचार रूप में शास्त्रों और ग्रन्थों में बंद रहा, पर आचार बनकर जीवन–व्यवहार में प्रकट नहीं हुआ। यही कारण है कि विचार में अनेकान्तवाही होकर भी आचार में हम एकान्तवादी, दुराग्रही और जिद्दी बने हुए हैं। हमारा अहम् और क्षुद्र स्वार्थ हम पर इतना हावी है कि हम अपने ही कुए को समुद्र माने हुए हैं। अनन्त विश्व से हटकर हम अपनी ही क्षुद्र काया और स्वार्थ की कारा में सिमट गए हैं, कैद हो गये हैं। छोटी–छोटी बातों पर हम इतने उत्तेजित और आवेगशील होते हैं कि हमारे शरीर और मन की शक्ति निरन्तर घटती रहती है, क्षीण होती रहती है। अनेकान्त व्यवहार में न उतरने के कारण हम जीवन रूपी समुद्र की ऊपरी सतह पर ही तैरते रहते हैं, जहाँ परस्पर नानाविध विरोधी विचारों की लहरें उठती हैं, गिरती हैं, मिटती हैं, आपस में टकराती हैं और उनसे झाग पैदा होता है। जीवन रूपी रत्नाकर से हम एक भी रत्न प्राप्त नहीं कर पाते। रत्न की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम समुद्र की ऊपरी सतह को भेद कर अन्तर की गहराई में गोते लगायें, अन्तर में पैठें, जहाँ लहरों की उथल–पुथल नहीं, उठने, गिरने और मिटने की हलचल नहीं, जहाँ लहरे प्रवाह का रूप लेकर प्रशान्त बन गयी हैं। ऐसी प्रशान्तता में ही रत्नों को, मोतियों को प्राप्त किया जा सकता है। अनेकान्त दृष्टि जब आचार में ढलती है, तब शान्ति और सुख का अनुभव होता है, तब विविधता में एकता का दर्शन होता है, तब शेष सृष्टि के साथ आत्म–तुल्य सम्बन्ध जुड़ता है। आज सबसे बड़ा संकट यह है कि हम अनेकान्त का कथन करते हैं, उसे अपनी करणी नहीं बनाते। हम अनेकान्त को पोशाक बनाकर ओढ़ते हैं, उसे प्राण बनाकर धारण नहीं करते। आवश्यकता है कि हम अनेकान्त को अपनी धर्मसाधना में चरितार्थ करें।

धर्म की आराधना आत्म स्वरूप को पहचान कर परमात्मा बनने की आराधना है। इस आराधना का अधिकार जीव मात्र को है। जन्म, जाति, वर्ण, लिंग आदि की कोई बाधा धर्माराधना में नहीं है, इसलिए उस धर्म को उत्कृष्ट मंगल कहा गया हैं जो अहिंसा, संयम और तप रूप है। अहिंसा केवल किसी को नहीं मारने तक सीमित नहीं है, मरते हुओं को बचाना, प्राणी मात्र के साथ प्रेम, वात्सल्य और मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना भी अहिंसा में समाहित है। संयम सब प्रकार की प्रवृत्तियों से विमुख होना नहीं है वरन् प्रवृत्तियों में निवृत्ति भाव रखना है, निष्काम भाव से कर्म करते रहना है। तप केवल भूखा रहना अथवा शरीर को कष्ट पहुँचाना नहीं है, वरन् अपने कृत पापों के प्रति प्रायश्चित्त करना, सद् प्रवृत्तियों में रमण करना, शुभ भावनाओं का चिन्तन करना, सद् शास्त्रों का अध्ययन करना, शरीर के प्रति रहे हुए ममत्व को कम करना भी तप है। इस दृष्टिकोण से यदि धर्म और उससे सम्बद्ध विभिन्न साधना पद्धतियों एवं आचार अनुष्ठानों पर विचार किया जाए तो धार्मिक विग्रह का कोई कारण शेष नहीं रहता।

मन की गाठें खुलें, जीवन में रूपान्तरण आये

भगवान् महावीर और पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा, विद्वानों द्वारा विभिन्न दार्शनिक सन्दर्भों में अनेकान्त दर्शन पर व्यापक चिन्तन हुआ पर व्यवहार में इसकी उपेक्षा होती रही और यह हमारे आचार का, जीवन चर्या का अंग नहीं हो पाया। सच तो यह है कि बिना अनेकान्त दृष्टि के न अहिंसा का पालन हो सकता है, न अपरिग्रह का। वैचारिक अहिंसा अनेकान्त के अभाव में मूर्त्त रूप नहीं ले सकती। भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृतांग' में स्पष्ट कहा है–

"सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारे ते विउस्सिया॥"

1/2/23

अर्थात् जो आग्रही हैं, जो अपने–अपने सिद्धान्त की प्रशंसा करते है, दूसरे की निन्दा करने में तत्पर हैं – ऐसा करने में पाण्डित्त्य समझते हैं, वे इस संसार में चक्कर खाते रहते हैं।

निष्कर्ष– कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अनेकान्त दृष्टि विश्वजनीन दृष्टि है। पर यह विचार के धरातल पर ही संचरण करती रही है। दार्शनिक मतवाद में उलझने के कारण इसका जो परिणाम आचार–व्यवहार में प्रतिफलित होना चाहिए, वह नहीं हो पाया। 'स्याद्वाद' और सप्तभंगी को गणितीय परिप्रेक्ष्य में अधिक देखा–परखा गया, उससे प्रसूत जो नवनीत जीवन में ताजगी और स्निग्धता के रूप में प्रकट होना चाहिए था, वह न हो पाया। स्याद्वाद को सशंयवाद और सप्तभंगी की भंगिमा को भिन्नता के रूप में अधिक देखा–परखा और समझा गया। भंगी का अर्थ सौन्दर्य और छटा से है, भंगिमा से है। वस्तु, पदार्थ, और परिस्थिति का जो वैविध्य है, उसमें विवेक पूर्वक, यतनापूर्वक जब एकत्व की खोज की जाती है तब सप्तभंगी भंगिमा बनकर, छवि बनकर खिलती है। आवश्यकता है कि हम समता, स्वतंत्रता, स्थिरता, सरसता, समीक्षा, समन्वय और समग्रता की नई सप्तभंगी अपने जीवन व्यवहार में, आचार–विचार में चरितार्थ करें, तभी अनेकान्त सच्चे अर्थों में गुरु बन कर, प्रत्येक लोक व्यवहार में हमारा सम्यक् मार्गदर्शन करेगा और आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का विश्व गुरु के रूप में अनेकान्त को किया गया वह नमस्कार चरितार्थ होगा।

सामान्य विभाग–

व्रत–पच्चक्खाण सम्बन्धी जानकारी

व्रत पच्चक्खाण त्याग का ही एक रूप है। गृहस्थ और मुनि दोनों के जीवन में पच्चक्खाण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका प्रतिदिन प्रातः एवं सायं पच्चक्खाण ग्रहण करते हैं।

पच्चक्खाण का अर्थ–

भगवती सूत्र 7/2 में बताया गया कि प्रत्याख्यान का स्वरूप समझकर तथा जीवादि पदार्थों को जानकर हेय पदार्थों या हिंसा, क्रोधादि कषायों का त्याग करना– सुप्रत्याख्यान है। 'प्रवचन सारोद्धार' के अनुसार मर्यादा के निर्धारणपूर्वक अविरति का प्रतिज्ञा रूप कथन करना प्रत्याख्यान या पच्चक्खाण है। आवश्यक सूत्र की टीका में स्व.युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी ने बताया 'भविष्य में लगने वाले पापों से निवृत होने के लिए गुरूसाक्षी या आत्मसाक्षी से हेय वस्तु के त्याग करने को प्रत्याख्यान कहते हैं।' इसी प्रकार उन्होंने सूत्रकृतांग 2/4 में इसे परिभाषित किया – पूर्वकृत दोषों (अतिचारों) की निन्दा (पश्चात्ताप) एवं गर्हा (गुरूसाक्षी से निन्दा) करके भविष्य में उक्त पाप न करने का संकल्प करना प्रत्याख्यान है।

मर्यादा पूर्वक त्याग में द्रव्य (वस्तु की अपेक्षा) क्षेत्र (देश, विदेश या सर्वत्र) काल (कितने काल या जीवन पर्यन्त) भाव से (करण योग – करना, कराना, अनुमोदन, मन, वचन, काया से) निर्धारण करना है।

पच्चक्खाण क्यों करें–

1. निराकुलता एवं शान्ति के लिए– इच्छाएँ आकाश के सदृश अनन्त हैं। वे आकुलता की जनक हैं। उनकी पूर्ति संभव नहीं। इन्हें नियंत्रित करने का एक ही उपाय है प्रत्याख्यान या त्याग। क्योंकि भोग से नहीं त्याग से ही संतोष और शांति संभव है। **2. स्वास्थ्य लाभ–** भोग्य पदार्थों आदि की सीमा निश्चित करने या उनके त्याग से इन्द्रिय संयम/संतोष द्वारा व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ प्राप्त होता है। क्रोधादि के त्याग से वह मानसिक एवं आत्मिक शांति–लाभ प्राप्त करता है। इस प्रकार त्याग पच्चक्खाण को पूर्ण स्वस्थता प्राप्त करने का मूल मंत्र बताया है। **3. तृष्णा विजय एवं आसक्ति घटाने हेतु–** उत्तराध्ययन–सूत्र अध्ययन 29 में बताया गया कि प्रत्याख्यान से आस्रवद्वार (पापद्वार) बन्द किए जाते हैं। इससे इच्छानिरोध होने से व्यक्ति तृष्णा पर नियंत्रण/विजय करके आसक्ति को घटाता है। आसक्ति को घटाकर वह शांत एवं निराकुल बनता है। **4.संकल्प दृढ़ता में सहायक–** योगशास्त्र में आचार्य हेमचंद्र लिखते हैं– छोटे–बड़े प्रत्याख्यान लेकर पालन करने से व्यक्ति में संकल्प की दृढ़ता की वृत्ति का विकास होता है और इस प्रकार वह कठोरातिकठोर संकल्प करके भी उनका पालन करने योग्य बन जाता है। **5.** सूत्रकृतांग 2/4 में अप्रत्याख्यानी आत्मा को एकांत बाल बताया, अज्ञानी बताया क्योंकि हिंसादि पापों का ज्ञान न होने से तथा अज्ञान से आवृत्त होने के कारण वह पाप क्रिया का कर्ता कहलाता है। **6.प्रत्याख्यान एक तप–** इच्छाओं का स्वाधीनता पूर्वक निरोध करने से प्रत्याख्यान एक तप है और तप मुक्ति का द्वार है।

अब आगे पच्चक्खाणों के आगार व उनके अर्थ लिखें जा रहे हैं, जिनसे पच्चक्खाणों का स्वरूप ज्ञात हो सकेगा–

पच्चक्खाणों के आगार (छूट) व अर्थ–

1.अणाभोगेणं– पच्चक्खाण की स्मृति न रहने से कुछ खा पी लेना। **2. सहसागारेणं–** अचानक कोई वस्तु मुँह में गिर जाना, जैसे– वर्षा की बूँद आदि **3. पच्छन्नकालेणं–** पौरसी आदि का समय ज्ञात न होने से अथवा बादलों, आँधी, कुहरा आदि के कारण सूर्य नहीं दिखाई दे, अथवा नेत्र विकार आदि के कारण सूर्य या घड़ी आदि स्पष्ट दिखाई न दें, जिससे पौरसी पूर्ण होने के भ्रम से पार लेना। **4. दिसामोहेणं–** दिशा सम्बन्धी भ्रम हो जाना अर्थात् पूर्व को पश्चिम समझकर पौरसी न आने पर भी सूर्य के ऊँचा चढ जाने की भ्रान्ति से आहारादि ग्रहण कर लेना अथवा बादल, अन्धेरा, नेत्र विकार आदि के कारण सूर्य की दिशा या घड़ी के काँटों को देखने में भ्रम हो जाने से कुछ समय पूर्व पच्चक्खाण पार ले। **5. साहुवयणेणं–** साधु या बड़े व्यक्ति के कहने से पौरसी आदि पार लेना अथवा जानकार पुरुष के सुनने, देखने, गिनने में भूल–चूक हो जाने से कुछ समय पूर्व पच्चक्खाण पार ले। **6. महत्तरागारेणं–** सेवादि विशेष कार्य के लिए गुरु आदि बड़ों की आज्ञा होने पर पच्चक्खाण पार लेना। **7.सव्वसमाहिवत्तियागारेणं–** अकस्मात् असह्य रोग के कारण औषधि आदि लेना पड़े। **8. सागारियागारेणं–** सागारिक का अर्थ है गृहस्थ। किसी क्रूर दृष्टि वाले गृहस्थ के आने पर एकासन आदि में एक स्थान से दूसरी जगह जाना पड़े। **9.आउंट्टणपसारणेणं–** एकासन में भोजन करते हुए हाथ पाँव सिकोड़ना–फैलाना पड़े। **10. गुरु अब्भुट्ठाणेणं–** गुरुजन या बड़े आदमी या अतिथि विशेष के आने पर आदर देने हेतु उठना पडे। **11. पारिट्ठावणियागारेणं–** यह आगार साधु या साध्वियों के लिए है, परठने की स्थिति होने पर एकासन करने के बाद भी आहार ग्रहण करना पड़े। **12. लेवालेवेणं–** घी आदि से लिप्त हो या या बाद में उसे पौंछ लिया हो, फिर भी उसमें कुछ अंश रहता है, उसका आगार। **13. उक्खित्त विवेगेणं–** रोटी आदि पर रखे हुए सूखे गुड़ या शक्कर को अलग करके दिया जाय, उसे लेने का आगार **14.गिहिसंसट्ठेणं–** गृहस्थ के द्वारा घृतादि का लेप, घृत से चुपड़ी रोटी का सूखी रोटी के लेप, सिझाए हुए चावल, धान या रोटी में पहले नमक डाल दिया हो, छोंक में कुछ तेल/घी डाल दिया हो यह अंश अत्यंत अल्प हो, उसका आगार।

संख्या 8 से 11 तक के आगार एकासन एकलठाण के एवं शेष 12 से 14 तक के आगार आयंबिल के हैं।

चारों प्रकार के आहार का अर्थ–

1. अशन (असणं)– रोटी, दाल, चावल, दूध, दही, मिष्ठान्न आदि भोजन सामग्री। **2.पान (पाणं)–** पानी। **3. खादिम (खाइमं)–** बादाम, दाख, आमादि फल। **4.स्वादिम (साइमं)–** सुपारी, इलायची, चूर्ण आदि मुखवास।

गृहीत प्रत्याख्यानों में किसी प्रकार का दोष न लगे, इसके लिये साधक को सतत जागरूक रहना चाहिये। इसीलिये प्रत्याख्यान आवश्यक में छह प्रकार की विशुद्धि का उल्लेख है। ये विशुद्धियाँ निम्नानुसार हैं–

1. **श्रद्धान विशुद्धि–** पंच महाव्रत, बारह व्रत आदि रूप जो प्रत्याख्यान है, उसका श्रद्धा के साथ पालन करना।
2. **ज्ञान विशुद्धि–** जिनकल्प, स्थविरकल्प, मूलगुण, उत्तरगुण आदि जिस प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप है, उस स्वरूप को समीचीन रूप से जानना।
3. **विनय विशुद्धि–** मन, वचन और काया सहित प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान में जितनी वन्दनाओं का विधान है, उतनी वन्दना अवश्य करनी।

4. **अनुभाषण विशुद्धि–** प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय सद्गुरू के सम्मुख विनय मुद्रा में खड़े रहकर शुद्ध पाठ का उच्चारण करना।

5. **अनुपालन विशुद्धि–** भयंकर वन में या दुर्भिक्ष आदि में या रुग्ण अवस्था में व्रत का उत्साह के साथ सम्यक् प्रकार से पालन करना।

6. **भाव विशुद्धि–** राग–द्वेष रहित पवित्र भावना से प्रत्याख्यान का पालन करना।

आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है कि प्रत्याख्यान में तीन प्रकार के दोष लगने की सम्भावना रहती हैं। अतः साधक को उन दोषों से बचना चाहिये। वे दोष इस प्रकार हैं–

1. अमुक व्यक्ति ने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, जिसके कारण उसका समाज में आदर हो रहा है। मैं भी इसी प्रकार का प्रत्याख्यान करूँ, जिससे मेरा आदर हो। ऐसी राग भावना को लेकर प्रत्याख्यान करना।

2. मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूँ जिसके कारण जिन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किया है, उनकी कीर्ति–कोमुदी धुंधली हो जाये। इस प्रकार दूसरों के प्रति दुर्भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इस प्रकार के प्रत्याख्यान में तीव्र द्वेष प्रकट होता है।

3. इस लोक में मुझे यश प्राप्त होगा और परलोक में भी मेरे जीवन में सुख शान्ति की बंशी बजेगी, इस भावना से उत्प्रेरित होकर प्रत्याख्यान करना। इसमें यश की अभिलाषा, वैभवप्राप्ति की कामना आदि रही हुई है।

पच्चक्खाण संबंधी ध्यान रखने योग्य जानकारियाँ–

(1) **नवकारसी–** 1. इस पच्चक्खाण में चारों आहारों का त्याग किया जाता है। 2. यह पच्चक्खाण सूर्योदय से दो घड़ी (48 मिनट) बाद तक का किया जाता है तथा पहले दिन सायंकाल सूर्यास्त से दूसरे दिन सुबह सूर्योदय से 48 मिनट बाद तक का भी किया जाता है।

(2) **पौरसी–** 1. इस पच्चक्खाण में भी चारों आहार का त्याग होता है। 2.यह भी सूर्यास्त से दूसरे दिन सूर्योदय से एक प्रहर दिन आने तक का अथवा सूर्योदय से एक प्रहर दिन चढ़ने तक का किया जाता है। **प्रहर–** दिन जितने घंटे का हो उसके चार भाग करने पर एक भाग को प्रहर माना गया है।

(3) **डेढ़ पौरसी/दो पौरसी–** 1. पौरसी के पच्चक्खाण के पाठ से ही पौरसी के स्थान पर डेढ़ पौरसी/दो पौरसी बोलकर डेढ़ पौरसी/दो पौरसी के पच्चक्खाण किये जाते हैं। 2. इनके पच्चक्खाण के आगारों में महत्तरागारेणं विशेष है।

(4) **एकाशन–** 1. इसमें अचित्त पानी (धौवन अथवा गर्म) ही पिया जाता है। 2.यह पौरसी/दो पौरसी, तीन पौरसी आने पर भी किया जाता है। 3. यह तिविहार अथवा चौविहार भी किया जाता है। 4. एकाशन का भोजन करने से पूर्व पच्चक्खाण कर लेना चाहिए। 5. इसी पच्चक्खाण पाठ से एकाशन के स्थान पर बेआशन बोलकर बेआशन भी किया जाता है।

(5) **एकलठाण–** 1. इसमें जिस आसन से भोजन करने बैठें उसी आसन से बैठे रहना आवश्यक है। हाथ जिससे भोजन करना है और मुँह के अलावा शेष अंग हिलाना नहीं है। 2. इसमें एक बार ही एक स्थान पर बैठकर भोजन व धौवन या गर्म पानी ग्रहण करना होता है।

(6) **आयम्बिल–** 1. यह व्रत भी तिविहार या चौविहार किया जाता है। 2.तिविहार के पच्चक्खाण में 'पाणं' नहीं बोलना चाहिए। 3. इसमें पाँचों विगयों का त्याग करने के साथ ही लूखा व फीका आहार किया जाता है।

(7) **उपवास–** 1. यह भी तिविहार अथवा चौविहार किया जाता है। 2.उपवास के साधक को अधिकाधिक समय आरंभ परिग्रह से बचकर धर्मध्यान में लगाना चाहिए। अन्यथा वह केवल भोजन त्याग करने से लंघन मात्र ही रह जायेगा। 3. उपवास के पच्चक्खाण पाठ में अभत्तट्ठ के साथ पिछली तपस्या मिलाकर बेला, तेला, चोला, पचोला आदि के पच्चक्खाण करना उचित होगा।

(8) **दिवसचरिम–** 1. इसमें दिन अस्त होने से पूर्व पच्चक्खाण किया जाता है। इसमें शेष रहे दिन तथा पूरी रात का त्याग होता है। 2.यह पच्चक्खाण तिविहार अथवा चौविहार दोनों प्रकार से किया जाता है।

भवचरिम– 1. भवचरिम का अर्थ है 'आयुष्य का अंतिम भाग'। आयुष्य के अंतिम समय में जीवन भर के लिए चारों या तीनों आहारों का त्याग कर लिया जाता है और संथारा ग्रहण करके संयम की आराधना की जाती है। 2. इसका उत्तमता से पालन करने पर मुक्त होने में विशेष भव नहीं करने पड़ते।

(9) **अभिग्रह–** 1. प्रत्याख्यान करने से पूर्व अभिग्रह का निश्चय कर लेना आवश्यक है। 2. प्रत्याख्यान में जो काल निश्चित किया है, उससे पूर्व अभिग्रह फल जाय तो इसे पार लिया जाय अन्यथा निर्धारित समय तक तप चलता रहता है। 3. साधक को अपनी शक्ति और सामर्थ्य का विचार करके ही अभिग्रह ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इसमें बड़े धैर्य एवं साहस की आवश्यकता होती है।

(10) **निविग्गइ या नीवी–** 1. इसमें दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, शक्कर, गुड़, मधु जैसी विकारोत्पादक वस्तुओं का त्याग होता है। इसी कारण इसे निविग्गइ या नीवी कहा जाता है।

दयाव्रत–

1. यह कम से कम सात प्रहर की होती है। इसमें पृथ्वीकायादि छः काय के जीवों की रक्षा करना आवश्यक है। 2. नंगे पैर जीवरक्षार्थ चलना, कच्चा पानी, वनस्पति का स्पर्श नहीं करना। 3. वायुकाय के जीवों की रक्षार्थ खुले मुँह नहीं बोलना, बिजली चूल्हा आदि आग का स्पर्श नहीं करना 4. दिन के अंतिम प्रहर में अपने ओढ़ने–बिछाने एवं पहनने के कपड़े, सामायिक के उपकरण, पुस्तकें आदि की प्रतिलेखना करना। 5.सायंकाल प्रतिक्रमण करना 6.रात्रि में (दयाव्रत में) फर्श पर ही केवल दरी, चद्दरादि बिछाकर सोना। 7. मूत्रादि (रात्रि में) परठने के लिए दिन में ही भूमि देख लेना ताकि रात्रि में वहाँ मूत्रादि परठने पर जीव हिंसा से बचा जा सके। 8. सांसारिक कार्य नहीं करना। 9.अहिंसा, सत्यादि पाँच व्रतों का पालन करने से दयाव्रती साधु जीवन का अभ्यास करता है। 10. दिन में देखकर रात्रि में पूँजकर चलना।

पौषधव्रत–

आत्मगुणों को पुष्ट करने के कारण यह व्रत पौषधव्रत कहलाता है। 1. अष्टप्रहरी पौषध सूर्योदय से दूसरे दिन सूर्योदय तक किया जाता है। 2. ग्यारहवाँ पौषध कम से कम 5 प्रहर का किया जाता है। दिन का पिछला प्रहर एवं रात्रि के 4 प्रहर मिलाकर 5 प्रहर गिने जाते हैं। 3. पौषध में साधक चारों प्रकार के आहार का तथा अब्रह्मचर्य, आभूषण, अलंकार, विलेपन तथा समस्त सावद्य (पाप) क्रियाओं का त्याग करता है। 4. देश पौषध में दिन में धौवन अथवा गर्म पानी लेने पर भी रात्रि में चौविहार किया जाता है। 5. दोनों समय (सुबह, सायं) ओढ़ने, बिछाने, पहनने के वस्त्र एवं सामायिक के उपकरण की प्रतिलेखना करना आवश्यक है। 6.रात्रि में परठने की भूमि सायंकाल ही देख लेनी चाहिए। 7. पौषध के 18 दोषों का त्याग करना आवश्यक है।

नोट– एकाशन, आयम्बिल, उपवास, नीवी, दयाव्रत, पौषधव्रतादि में रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना एवं सचित्त जल का त्याग करना अनिवार्य है।

संलेखना–संथारा–

इसे साधक मृत्यु निकट अनुभव कर मरणासन्न स्थिति में करता है। इसमें निम्न बातों का ध्यान रखना एवं पालन करना चाहिए – 1.भूमि का प्रतिलेखन प्रमार्जन करना। 2.गमनागमन क्रिया की आलोचना करना। 3.सिद्ध परमात्मा, अरिहंत भगवान् एवं धर्माचार्यजी को विनय भाव से वन्दन करना। 4.समस्त जीवों से क्षमायाचना करना। 5.पूर्वकाल में ग्रहण किए हुए व्रतों में लगे दोषों की आलोचना, समस्त पापों का त्याग– तीनों/चारों आहारों का त्याग करना। 6.प्रायश्चित्त कर पुनः व्रतों में स्थापना करना। 7.कोई कामना नहीं करना।

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर

कक्षा : नवमी – जैन सिद्धान्त प्रभाकर पूर्वार्द्ध (परीक्षा 16 जुलाई, 2017)

समय : 3 घण्टे अंक : 100

प्र.1 निम्नलिखित प्रश्नों में से सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए :- 10x1 = (10)

(a) ''अहाकम्मेहिं'' शब्द का अर्थ लिखिए -

(क) कार्य के अनुसार (ख) कर्मों के अनुसार

(ग) आधाकर्मी (घ) अहाकर्म ( )

(b) ''विणिहम्मंति' का अर्थ है-

(क) विनिघात को प्राप्त होते है (ख) मारे जाते हैं

(ग) घात किये जाते हैं (घ) उपर्युक्त सभी ( )

(c) 'विग्गहं' का अर्थ है -

(क) शरीर (ख) मध्यस्थ

(ग) कलह (घ) मकान ( )

(d) 'पावए' का अर्थ है-

(क) पावस (ख) प्रवास

(ग) अग्नि (घ) पाप ( )

(e) 'अजया' का अर्थ है-

(क) अयति (ख) असंयमी

(ग) अजितेन्द्रिय (घ) उपर्युक्त सभी ( )

(f) 'परत्था' का अर्थ है-

(क) दूसरे से (ख) दूसरे के लिए

(ग) परलोक में (घ) परस्पर ( )

(g) 'समया' का अर्थ है-

(क) समता (ख) समर्थता

(ग) सम (घ) समय ( )

(h) किस अंग का विच्छेद होने से वर्तमान में 11 अंग सूत्र हैं-

(क) आचारांग (ख) ऋषिभाषित

(ग) अंगचूलिया (घ) दृष्टिवाद ( )

(i) पाँचवें गुणस्थान में लेश्या पाई जाती है-

(क) 4 (ख) 6

(ग) 3 (घ) 1 ( )

(j) ग्यारहवें गुणस्थान में उदीरणा होती है-

(क) 8 कर्मों की (ख) 07 कर्मो की

(ग) 5 कर्मों की (घ) 1 कर्म की ( )

प्र.2 निम्न प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' अथवा 'नहीं' में दीजिए :- **10x1 = (10)**

(a) आसुर शब्द का अर्थ नीचे के देवों के उत्पत्ति-स्थान के लिए प्रयुक्त है। ( )

(b) जमाली ने द्वैक्रियवाद मत प्रवर्तन किया। ( )

(c) 'घोरा मुहुत्ता' में मुहूर्त का अर्थ मृत्यु (काल) लिया गया है। ( )

(d) ''मलावधंसी'' शब्द का अर्थ आत्मा है। ( )

(e) उपशम केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। ( )

(f) जीव एक समय तक अनाहारक रह सकता है। ( )

(g) 9वें गुणस्थान में 7 कर्मों की निर्जरा होती है। ( )

(h) अमर गुणस्थान 3,12,13 है। ( )

(i) 'स्यात्' शब्द का अर्थ सम्भवतः नहीं होता है। ( )

(j) 'पाणं' शब्द का अर्थ पेय पदार्थ होता है। ( )

प्र.3 मुझे पहचानो :- **10x1 = (10)**

(a) मैंने त्रैराशिकवाद का प्रवर्तन किया था। .....

(b) मुझे कोई शीघ्र प्राप्त नहीं कर सकता। .....

(c) अंतिम श्वांस तक मेरी आकांक्षा करनी चाहिए। .....

(d) क्षायिक सम्यक्त्व के एक समय पहले मेरी स्थिति रहती है। .....

(e) वस्तु के भेद अथवा प्रकारों को कहते हैं। .....

(f) मैं मन और इन्द्रियों की सहायता से होता हूँ। .....

(g) मुझमें समकित मोहनीय के उदय की नियमा है। .....

(h) मुझमें चार आत्माएँ होती हैं। .....

(i) मुझमें भगवान महावीर ने अनेकान्त दृष्टि से प्रश्नों के समाधान प्रस्तुत किये। .....

(j) मैं कम से कम पाँच प्रहर का होता हूँ। .....

प्र.4 निम्न प्रश्नों के उत्तर एक-दो पंक्तियों में दीजिए। **14x2 = (28)**

(a) **दस अंग कौनसे हैं जिनको देवलोक से आया हुआ जीव प्राप्त करता है ?**

.....

.....

(b) **'मइमं गहाय' के दो अर्थ कौनसे हैं ?**

.....

.....

(c) **'चरे पयाइं परिसंकमाणो' की दो व्याख्याएँ लिखिए।**

.....

.....

(d) **अधिगमज सम्यग्दृष्टि किसे कहते हैं ?**

.....

.....

(e) **तन्निसर्गादधिगमाद्वा अथवा तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् का अर्थ लिखिए।**

.....

.....

(f) **तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् का अर्थ लिखिए।**

.....

.....

(g) **अवाय किसे कहते हैं ?**

.....

.....

(h) **ऋजुसूत्र नय किसे कहते हैं ?**

.....

.....

(i) **गुणस्थानों में सत्ता द्वार का कथन कीजिए।**

.....

.....

(j) **गुणस्थानों में समकित द्वार का कथन कीजिए।**

.....

.....

(k) **दूसरे गुणस्थान वाले पाँचवें गुणस्थान वाले से असंख्यात गुणा क्यों हैं ?**

.....

.....

(l) **स्यात् शब्द का अर्थ क्या है ?**

.....

.....

(m) **भगवती सूत्र में सुप्रत्याख्यान किसे कहा गया है ?**

.....

.....

(n) **एकलठाणे की विशेषता लिखिए।**

.....

.....

प्र.5 निम्न प्रश्नों के उत्तर दो-तीन वाक्यों में लिखिए : - **14x3 = (42)**

(a) **एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्म-किव्विसा।**
न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया।। का अर्थ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

(b) **चउरंगं दुल्लहं नच्चा, संजमं पडिवज्जिया।**

तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए।।

अथवा

भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।

पुव्वं विसुद्ध सद्धम्मे, केवलं बोहि-बुज्झिया।। इस गाथा का अर्थ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

(c) **वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमंमि लोए अदुवा परत्था।**

दीवप्पणट्ठेव अणंतमोहे, नेआउयं दुट्ठुमदट्ठुमेव।। गाथा का अर्थ लिखिए।

.....

.....

.....

.....

(d) **''छंद निरोहण'' की तीन व्याख्या लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(e) **नामस्थापना द्रव्य भाव तस्तन्न्यासः का विवेचन कीजिए।**

.....

.....

.....

.....

(f) **मतिज्ञान के कुल कितने भेद होते हैं ?**

.....

.....

.....

.....

(g) **मतिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान की कोई तीन विशेषताएँ लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(h) **अवधि और मनःपर्याय ज्ञान में क्या अन्तर है ?** **अथवा**

प्रथम तीन ज्ञान विपरीत क्यो होते हैं ?

.....

.....

.....

.....

(i) **तेजस-कार्मण शरीरों की विशेषताएँ लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(j) **गुणस्थानों की अपेक्षा से बंध द्वार का उल्लेख कीजिए।**

.....

.....

.....

.....

(k) **गुणस्थानों के आकर्ष द्वार का उल्लेख कीजिए ।**

अथवा

गुणस्थानों के अन्तर द्वार का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

(l) **सप्तभंगी के सात विकल्प लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(m) **प्रत्याख्यान की प्रथम तीन विशुद्धियों को समझाइए।**

.....

.....

.....

.....

(n) **प्रत्याख्यान करने के कोई तीन लाभ लिखिए।**

.....

.....

.....

.....